वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४७ अंक ७ जुलाई २००९
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखःभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २००९

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४७
अंक ७

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

१.	विवेक-चूडामणि (श्री शंकराचार्य)	३०३
२.	रामकृष्ण-वन्दना (कविता)	३०४
३.	भक्ति तथा कर्म का मार्ग (स्वामी विवेकानन्द)	३०५
४.	नाम की महिमा (२/१) (पं. रामकिंकर उपाध्याय)	३०७
५.	चिन्तन – १६१ (योगः कर्मसु कौशलम्) (स्वामी आत्मानन्द)	३१२
६.	आत्माराम के संस्मरण (१३)	३१३
७.	पुरखों की थाती (संस्कृति सुभाषित)	३१७
८.	मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर)	३१८
९.	महाभारत-मुक्ता (१) धर्म का रहस्य (स्वामी सत्यरूपानन्द)	३१९
१०.	स्वामीजी और राजस्थान – ५५ खेतड़ी जाने की तैयारी (स्वामी विदेहात्मानन्द)	३२१
११.	माँ की मधुर स्मृतियाँ – ६८ (माँ की स्मृति) (क्रमशः) (सुहासिनी देवी)	३२५
१२.	क्रोध पर विजय – ७ (स्वामी बुधानन्द)	३२८
१३.	पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१३) (स्वामी प्रेमेशानन्द)	३३१
१४.	स्वामी विवेकानन्द की अस्फुट स्मृतियाँ (क्रमशः) (स्वामी शुद्धानन्द)	३३३
१५.	सत्यनिष्ठा और भगवत्प्रेम (स्वामी प्रेमानन्द)	३३७
१६.	जीवन एक अबूझ पहेली (कविता) (देवेन्द्र कुमार मिश्रा)	३३८
१७.	ब्रह्मचर्य की महिमा (स्वामी यतीश्वरानन्द)	३३९
१८.	कथा – दान के दृष्टान्त (रामेश्वर टांटिया)	३४३
१९.	समाचार और सूचनाएँ (छत्तीसगढ़ की राजधानी में युवा-दिवस की झलकियाँ, रामकृष्ण मिशन आश्रम, कटिहार)	३४४

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति ।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स गच्छति ।।८४।।

अन्वय – यः शरीरपोषणार्थी सन् आत्मानं दिदृक्षति, सः ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं गच्छति ।।

अर्थ – जो व्यक्ति सारे समय शरीर के पालन-पोषण में ही व्यस्त रहते हुए अपने आत्म-स्वरूप का दर्शन करने का इच्छुक है, वह मानो घड़ियाल को ही काठ समझ उसे पकड़कर नदी पार करना चाहता है।

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु ।
मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति ।।८५।।

अन्वय – मुमुक्षोः वपुः आदिषु मोहः एव महा-मृत्युः । येन मोहः विनिर्जितः, सः मुक्तिपदम् अर्हति ।।

अर्थ – मुमुक्षु (मुक्तिकामी) के लिये शरीर आदि के प्रति मोह ही महा-मृत्यु के समतुल्य है। जिसने मोह पर विजय पा ली है, वही मुक्तिपद का अधिकारी है।

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु ।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।८६।।

अन्वय – देह-दार-सुत-आदिषु मोहं महामृत्युं जहि। यं जित्वा मुनयः विष्णोः तत् परमं पदं यान्ति ।।

अर्थ – देह, स्त्री, पुत्र आदि के प्रति मोह-रूपी महामृत्यु पर विजय प्राप्त करो; इसे जीतकर ही मुनिगण विष्णु के उस परम पद की उपलब्धि करते हैं।

त्वङ्-मांस-रुधिर-स्नायु-मेदो-मज्जास्थि-संकुलम् ।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः।।८७।।

अन्वय – त्वङ्-मांस-रुधिर-स्नायु-मेदो-मज्जा-अस्थि-संकुलम्, मूत्र-पुरीषाभ्यां पूर्णं इदं स्थूलं वपुः निन्द्यम् (अस्ति) ।

अर्थ – त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मेद, मज्जा तथा अस्थियों से निर्मित और मल-मूत्र से परिपूर्ण – यह स्थूल शरीर निन्दनीय है।

पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा ।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः ।
अवस्था जागरस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः ।।८८।।

अन्वय – पञ्चिकृतेभ्यः स्थूलेभ्यः भूतेभ्यः पूर्वकर्मणा आत्मनः भोग-आयतनम् इदम् स्थूलम् समुत्पन्नम्। तस्य जागरः अवस्था यतः स्थूल-अर्थ-अनुभवः ।

अर्थ – पंचीकृत स्थूल भूतों से जीवात्मा के पूर्व कर्मों के संयोग से आत्मा के भोग-आयतन के रूप में यह स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ है। उसकी जाग्रत अवस्था स्थूल पदार्थों के अनुभव पर आश्रित है।

बाह्येन्द्रियैः स्थूलपदार्थसेवां
स्त्रक्चन्दनस्त्र्यादिविचित्ररूपाम् ।
करोति जीवः स्वयमेतदात्मना
तस्मात्प्रशस्तिर्वपुषोऽस्य जागरे ।।८९।।

अन्वय – जीवः बाह्य-इन्द्रियैः स्त्रक्-चन्दन-स्त्री-आदि-विचित्र-रूपाम् स्थूल-पदार्थ-सेवाम् एतद्-आत्मना स्वयं करोति। तस्मात् अस्य वपुषः जागरे प्रशस्ति।

अर्थ – बाह्य इन्द्रियों के माध्यम से, जीव स्वयं ही माला, चन्दन, स्त्री आदि विविध प्रकार के स्थूल पदार्थों का भोग करता है; इसीलिये इस जाग्रत अवस्था में इस स्थूल शरीर का महत्त्व है।

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(मिश्र-भैरवी–कहरवा)

हे रामकृष्ण करुणावतार, माया से अपनी लो उबार ।
शरणागत सौंप रहा तुमको, इहलोक और परलोक-भार ।।

ना है मेरे जप-तप विराग, अन्तर में पूरित द्वेष-राग ।
बस इतना ही स्वीकार करो, कतिपय शब्दों का पुष्पहार ।।

देकर चरणों की धूलिकणा, अपना लो अपना यंत्र बना ।
देखो पग विचलित होवे ना, मेरे जीवन के कर्णधार ।।

विस्मरण तुम्हारा ना होवे, तव नामरत्न भी ना खोवे ।
निज पादपद्म की नौका में, इस भवसागर से करो पार ।।

सब त्याग शरण में आया हूँ, चरणों में मधुप लुभाया हूँ ।
अब तो 'विदेह' यह बोध हुआ, तुम जग-जीवन के परम सार ।।

– २ –

(अहीर-भैरव–कहरवा)

मैं तो रामकृष्ण-गुण गाऊँ ।
स्मरण-मनन-जप-आराधन में,
प्रतिपल आनन्द पाऊँ ।।

पंकिल भव से मुझे निकाला,
और मिटाई चित की ज्वाला;
उनके चरणों में ही रहकर,
जीवन सफल बनाऊँ ।।

ज्यों वे रखते त्यों ही रहता,
निज सुख-दुख सब उनसे कहता;
वे ही मेरे स्वामि-सखा-गुरु,
उनका दास कहाऊँ ।।

उनका नाम परम धन मेरा,
छूटा जनम-मरण का फेरा;
धन्य हुआ जीवन 'विदेह' अब,
पद बलिहारी जाऊँ ।।

– *विदेह*

भक्ति तथा कर्म का मार्ग

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

भक्तियोग – प्रेम का मार्ग

मधुर भाव को छोड़ क्या अन्य कोई भाव या सम्बन्ध नहीं है, जिनके द्वारा उपासना की जा सके? अन्य चारों मार्गों का अनुसरण करके पूरे हृदय से ईश्वर का नाम-स्मरण करो। पहले हृदय के द्वार तो खुलने दो, बाकी सब अपने आप आ जाएगा। पर यह बात अच्छी तरह से समझ लो कि जब तक काम-वासना है, तब तक उस प्रेम का आविर्भाव नहीं होगा। क्यों न पहले अपनी भोगों की लालसा का ही त्याग कर डालो! ...

यह मत समझना कि कीर्तन का अर्थ केवल नाचना ही है। कीर्तन का अर्थ है – चाहे जैसे भी हो सके, ईश्वर का गुणगान करना। वैष्णवों का भावावेश में आकर नाचना और मस्त हो जाना – निस्सन्देह बड़ा मनोहारी है, पर उसमें एक खतरा भी है, जिससे स्वयं को बचाना होगा। वह खतरा है – उसकी प्रतिक्रिया में। एक ओर तो भावनाएँ सर्वोच्च शिखर तक पहुँच जाती हैं, आँखों से अश्रुप्रवाह होने लगता है और फिर शरीर मस्ती में झूमने लगता है, परन्तु दूसरी ओर संकीर्तन ज्योंही समाप्त होता है, त्योंही भावनाओं की इन प्रबल लहरों का उतनी ही शीघ्रता से पतन भी होता है। समुद्र में लहरें जितनी ऊपर उठतीं है, उतनी ही नीचे गिरती हैं। उस अवस्था में प्रतिक्रिया का आघात सह पाना आसान नहीं है। जब तक सद्-असद्-विवेक-बुद्धि का विकास नहीं हो जाता, व्यक्ति के ऐसी अवस्था में वासना आदि दुर्बलताओं का शिकार बन जाने की सम्भावना रहती है। ...

ईश्वर की ज्ञान-मिश्रित भक्ति से आराधना करो। भक्ति के साथ विवेक का लोप न हो। इसके अतिरिक्त महाप्रभु से उनकी सहृदयता, समस्त प्राणियों के लिये उनकी प्रेममय दया, ईश्वर के लिये उनका उत्कट प्रेम सीखो; और उनकी निस्पृहता को अपने जीवन का लक्ष्य बनाओ।[३७]

कर्मयोग – अनासक्ति का मार्ग

हमारा एकमात्र सच्चा कर्तव्य है – अनासक्त होकर एक स्वाधीन व्यक्ति की तरह कार्य करना तथा अपने समस्त कर्म प्रभु परमेश्वर को समर्पित कर देना। हमारे समस्त कर्तव्य उन्हीं के तो हैं।[३८]

कोई कार्य, कोई विचार, जो फल उत्पन्न करता है; वह 'कर्म' कहलाता है।[३९]

अत: ठीक ढंग से कर्म करने के लिये आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम आसक्ति का भाव त्याग दें। दूसरी बात यह है कि हमें स्वयं झंझट में उलझ नहीं जाना चाहिये, बल्कि अपने को एक साक्षी के समान रखना और अपना काम करते रहना चाहिये। मेरे गुरुदेव कहा करते थे – "अपने बच्चों के प्रति वही भावना रखो, जो एक दासी की होती है।" वह तुम्हारे बच्चे को गोद में लेती है, उसे खिलाती है और उसे इस प्रकार प्यार करती है, मानो वह उसी का बच्चा हो। परन्तु तुम ज्योंही उसे काम से अलग कर देते हो, त्योंही वह अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर घर छोड़ने को तैयार हो जाती है। बच्चों के प्रति उसका जो इतना प्रेम था, उसे वह बिल्कुल भूल जाती है। एक साधारण दासी को तुम्हारे बच्चों को छोड़कर दूसरे के बच्चों को लेने में जरा भी दु:ख नहीं होगा। तुम भी अपने बच्चों के प्रति यही भाव धारण करो। तुम उनकी दासी हो – और यदि तुम्हारा ईश्वर में विश्वास है, तो विश्वास करो कि ये सब चीजें, जिन्हें तुम अपनी समझते हो, वास्तव में ईश्वर की हैं।[४०]

हमें भलाई क्यों करना चाहिये? इसलिये कि भलाई करना ही अच्छा है। कर्मयोगी का कहना है कि जो स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से भी सत्कर्म करता है, वह अपने को बन्धन में डाल लेता है। किसी कार्य में यदि थोड़ी भी स्वार्थपरता रहे, तो वह हमें मुक्त करने की जगह, हमारे पैरों में एक बेड़ी और डाल देता है।

अत: एकमात्र उपाय है – समस्त कर्मफलों का त्याग कर देना, अनासक्त हो जाना। ... बिना किसी स्वार्थ के किया हुआ प्रत्येक सत्कार्य हमारे पैरों में एक और बेड़ी डालने के बदले पहले की ही एक बेड़ी को तोड़ देता है। बिना किसी बदले की आशा से संसार में भेजा गया प्रत्येक शुभ विचार संचित होता जाएगा – वह हमारे पैरों की बेड़ियों में से एक को काट देगा और हमें अधिकाधिक पवित्र बनाता जाएगा; और अन्तत: हम पवित्रतम बन जाएँगे।[४१]

जिस कर्म के द्वारा हमारी आध्यात्मिकता का विकास होता है, केवल वही कर्म है; और जो कर्म हममें भौतिकता को बढ़ावा देता है, वही अकर्म है।[४२]

इस मानव जीवन में व्यक्ति को सर्वदा किसी-न-किसी प्रकार का कर्म करते रहना पड़ता है। जब मनुष्य कर्म करने को बाध्य है, तो कर्मयोग हमें इस प्रकार कर्म करने की सलाह देता है, जिससे आत्मा की अनुभूति के माध्यम से हमें मुक्ति प्राप्त हो सके।[४३]

कर्म के द्वारा मुक्ति-लाभ करना हो, तो अपने को कर्म में लगाओ, परन्तु बिना किसी कामना के – बिना किसी फल की आकांक्षा के कर्म करो। इस प्रकार के कर्मों के द्वारा ज्ञान-लाभ होता है और ज्ञान के द्वारा मुक्ति होती है। ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व कर्मत्याग करने से दुःख ही होता है। आत्मा के लिये कर्म करने पर किसी प्रकार का कर्मजनित बन्धन नहीं होता। **कर्म से सुख की आकांक्षा भी मत करो और ऐसा भय भी मत रखो कि कर्म करने से कष्ट होगा।**... सारे कर्म भगवान को अर्पित कर दो। जग में रहो, पर संसारी मत बनो – जैसे कमल की जड़ कीचड़ में रहती है, पर वह स्वयं सर्वदा शुद्ध रहती है। लोग तुम्हारे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करें, पर तुम सभी से प्रेम करते रहो।[४४]

यदि तुम्हारी दृष्टि कर्म के फलों की ओर न रहे और यदि तुममें सभी तरह की कामनाओं तथा वासनाओं के परे जाने के लिये प्रबल आग्रह हो, तो ये सारे सत्कर्म तुम्हारे कर्म-बन्धन को काट डालने में सहायता करेंगे। यह सोचना मूर्खता है कि ऐसे कर्म से बन्धन आएगा। दूसरों के लिये किये हुए ऐसे कर्म ही कर्म-बन्धनों की जड़ को काटने के एकमात्र उपाय हैं। **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** – इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।[४५]

श्रीकृष्ण का चित्रण वैसा ही होना चाहिये, जैसे वे थे – गीता के मूर्तस्वरूप और उनके पूरे व्यक्तित्व से गीता का केन्द्रीय भाव अभिव्यक्त होना चाहिये। ... उनके शरीर का प्रत्येक अंग सक्रिय है और इसके बावजूद मुख पर नील गगन की गम्भीर शान्ति एवं प्रसन्नता व्याप्त है। यही तो गीता (४/१८) का मूल तत्त्व है – शरीर, मन तथा आत्मा को ईश्वर के चरणों में लगाये रखकर, सभी परिस्थितियों में शान्त और स्थिर बने रहना –

कर्मणि-अकर्म यः पश्येद्-अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्-मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न-कर्मकृत्।।

कर्म करते हुए भी जिसका मन शान्त है; और जब कोई बाह्य चेष्टा नहीं हो रही है, तब भी जिसमें सतत ब्रह्म-चिन्तन रूपी महान् कर्म की धारा बह रही है – वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगी है और वही कर्म-कुशल भी है। ...

फल की चिन्ता त्यागकर, मन तथा आत्मा को प्रभु के चरण-कमलों में लगाकर कर्म करना – अनन्त कर्म करना – गीता के निष्काम कर्मयोग का यह सन्देश प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचना चाहिये।

तांत्रिक साधना में फिसलने का बहुत ज्यादा डर है। ... अब इसे त्यागकर आगे बढ़ना चाहिये। वेदों का अध्ययन होना चाहिये। चारों योगों के एक मधुर समन्वय का अभ्यास होना चाहिये और पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण करना चाहिये।

सत् और असत् का विवेक, वैराग्य तथा भक्ति, कर्म तथा ध्यानयोग का अभ्यास – और इसके साथ-साथ स्त्रियों के प्रति आदर का भाव होना चाहिये।

स्त्रियाँ आदिशक्ति जगदम्बा की प्रतीक हैं। ... जिस दिन से हम जगदम्बा की सच्ची पूजा करने लगेंगे और हर व्यक्ति माँ की वेदी पर अपना बलिदान दे देगा, उसी दिन से भारत का सच्ची भलाई होने लगेगी और वह समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर होने लगेगा।[४६]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३७ख. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ८, पृ. २८१ **३८.** वही, खण्ड ३, पृ. ७६; **३९.** वही, खण्ड ३, पृ. ६८; **४०.** वही, खण्ड ३, पृ. ६३; **४१.** वही, खण्ड ३, पृ. ८८-८९; **४२.** वही, खण्ड ४, पृ. ३१७; **४३.** वही, खण्ड ६, पृ. १५३; **४४.** वही, खण्ड ७, पृ. ७४; **४५.** वही, खण्ड ६, पृ. १२२; **४६.** वही, खण्ड ८, पृ. २३८-२४२

स्वाधीनता से विकास – *स्वामी विवेकानन्द*

स्मरण रखो कि विकास की पहली शर्त है - स्वाधीनता। जिसे तुम बन्धनमुक्त नहीं करोगे, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता। यदि कोई अपने लिए शिक्षक की स्वाधीनता रखते हुए सोचे कि वह दूसरों को उन्नत कर सकता है, उनकी उन्नति में सहायता दे सकता है और उनका पथ प्रदर्शन कर सकता है, तो यह एक निरर्थक विचार है, एक भयानक मिथ्या बात है, जिसने संसार के लाखों मनुष्यों की उन्नति में अड़ंगा डाल रखा है। तोड़ डालो मानव के बन्धन! उन्हें स्वाधीनता के प्रकाश में आने दो। बस, यही विकास की एकमात्र शर्त है।
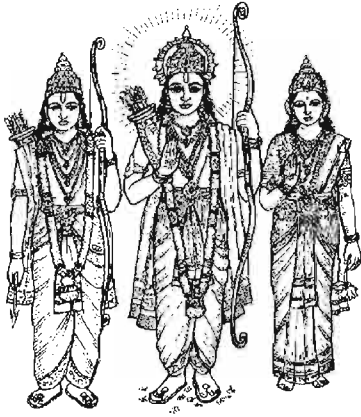
नाम की महिमा (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

गोस्वामीजी ने राम-नाम की तुलना तीन अवतारों से की। सतयुग में प्रह्लाद को भयमुक्त करने के लिये भगवान नरसिंह रूप में प्रगट होते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि आज भी हम उन्हें पा सकते हैं, क्योंकि यह राम-नाम ही नृसिंह भगवान हैं। त्रेतायुग में रावण की समस्या सामने आई और ईश्वर ने उसका समाधान देने के लिये श्रीराम के रूप में अवतार लिया। लक्ष्मणजी उनके अनुगामी हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि ये 'रा' और 'म' – दो अक्षर ही राम और लक्ष्मण हैं। आज भी हमारे जीवन में रावण की समस्यायें हैं और उन समस्याओं का समाधान भी हम नाम के द्वारा पा सकते हैं।

द्वापर युग में जैसे कंस या अनेक जो दुर्दान्त चरित्रवाले राजा थे, उनके द्वारा संसार में त्रास उत्पन्न हुआ; और उनका विनाश करने के लिये भगवान ने श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लिया। ठीक इसी तरह से आज भी हमारे जीवन में कंस है और उस कंस का विनाश करने के लिये जिन श्रीकृष्ण की आवश्यकता है, श्रीकृष्ण और बलराम की अपेक्षा है, वही इन दोनों अक्षरों का तत्त्व है। 'रा' और 'म' यही दोनों श्रीकृष्ण और बलराम हैं।

उच्चारण के रूप में नाम भले ही हमारे पास विद्यमान हो, पर हमारे जीवन में अभी नाम की महिमा सक्रिय नहीं हुई है। गोस्वामीजी ने पहला सूत्र यह दिया है कि जिस युग में हम रह रहे हैं, वही मानो हिरण्यकशिपु है।

हिरण्यकशिपु बड़ा शक्तिशाली था, बड़ा सक्षम था। उसने इतनी तपस्या और साधना की थी कि उनके द्वारा उसने अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त कर ली थीं। अन्त में उसके मन में यह बात आई कि अब तक कोई भी मृत्यु के भय से मुक्त नहीं हो सका है, मैं इस समस्या का भी समाधान पा लूँ। जब ब्रह्मा ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर पूछा – तुम क्या चाहते हैं? तो उसने बड़ा अनोखा वरदान माँगा।

वह जानता था कि यदि मैं ब्रह्मा से कहूँगा कि मेरी मृत्यु कभी न हो, तो वे कहेंगे कि यह सृष्टि के नियम के विरुद्ध है, नहीं हो सकता। पर वह अपने को ब्रह्मा से भी अधिक बुद्धिमान मानता है। उसने सोचा कि मैं इतनी चतुराई से वर माँगू कि मेरी मृत्यु ही न हो। वह ब्रह्मा से बोला – मेरी मृत्यु न तो भीतर हो, न बाहर; न दिन में हो, न रात में; न अस्त्र के द्वारा हो, न शस्त्र के द्वारा; न मेरी मृत्यु मनुष्य से हो, न सिंह आदि पशु से; और न किसी देवता के द्वारा ही हो।

इस प्रकार अपनी दृष्टि में उसने मृत्यु के सारे द्वार बन्द कर दिये। उसे लगा कि जिन-जिन मार्गों से मृत्यु मनुष्य के जीवन में आती है, उन मार्गों को मैंने अवरुद्ध कर दिया। ईश्वर ने जिस सृष्टि का निर्माण किया है, इसमें उन्होंने व्यक्ति के जीवन के साथ जान-बूझकर ही मृत्यु को जोड़ दिया है। वे ऐसी भी सृष्टि का निर्माण कर सकते थे, जिसमें मृत्यु न होती। पर जीवन के साथ मृत्यु एक सुनियोजित विधान है।

'अमरता' स्वयं में एक बड़ी उपलब्धि प्रतीत होती है और लगता है कि अमर हो जाना सबसे बड़ी सफलता है, लेकिन मृत्यु-भय के पीछे एक संकेत स्पष्ट दिखाई देता है, यद्यपि वह भय व्यक्ति के अन्त:करण में भले ही निरन्तर न रहता हो, परन्तु **मृत्यु का भय ईश्वर की स्मृति का एक साधन है।** व्यक्ति को इस बात का बोध होना चाहिये कि हम कितने भी समर्थ क्यों न हो, पर इस अनिवार्य मृत्यु के समक्ष हमारी सामर्थ्य सक्षम नहीं हो पाती, सफल नहीं हो पाती।

जब लक्ष्मणजी को शक्ति लगी और हनुमानजी उन्हें प्रभु श्रीराम की गोद में ले आये, तो उन्हें मूर्छित देखकर प्रभु की आँखों में आँसू आ गये। हनुमानजी ने व्याकुल होकर श्रीराम से कहा – प्रभो, आप मुझे बताइये कि इन सेवाओं में से कौन-सी सेवा मैं आपकी करूँ? उन्होंने जो विकल्प बताये, उनका गोस्वामीजी ने गीतावली रामायण में वर्णन किया। हनुमानजी बोले – मैंने सुना है चन्द्रमा में अमृत है; तो लक्ष्मणजी का जीवन लौटाने हेतु मैं चन्द्रमा को निचोड़ कर उसका अमृत उनके मुँह में डाल दूँगा और लक्ष्मणजी जीवित हो जायेंगे। आप मुझे आदेश दीजिये –

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चन्द्रमहि निचोरि चैल-ज्यौं
आनि सुधा सिर नावौं।। गीता., लंका., ८/१

भगवान श्रीराघवेन्द्र ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने हनुमानजी को स्मरण दिलाया – एक दिन मैंने जब पूछा था कि चन्द्रमा में यह कैसी कालिमा है, तो तुम्हीं ने कहा था –

ससि तुम्हार प्रिय दास ।। ६/१२ क

चन्द्रमा आपका प्रिय दास है। तो लक्ष्मण भी मेरे प्रिय दास हैं और तुम स्वयं यह मानते हो कि चन्द्रमा मेरा प्रिय दास है, तो क्या एक दास को बचाने के लिये दूसरे दास को निचोड़ देना, या मार डालना उचित होगा।

हनुमानजी बोले – कहा जा रहा है कि सूर्योदय होते ही लक्ष्मणजी के प्राण चले जायेंगे। तो राहु मुझसे बड़ा डरता है। यदि आप आज्ञा दे तो मैं राहु से कहकर उसे सूर्य के ऊपर ऐसा स्थापित कर दूँ कि न तो सूर्य का उदय हो और न तो लक्ष्मणजी का प्राण जाय। प्रभु ने कहा – हनुमान, सूर्य-वंश में हमारा जन्म हुआ, यह बताओ कि हम संसार में प्रकाश फैलाने के लिये आये हैं या उसे प्रकाश से वंचित करने के लिये? बोले – यह विकल्प भी ठीक नहीं है।

तब हनुमानजी ने प्रभु से एक अन्तिम प्रस्ताव किया कि तो फिर प्रभो, यह मृत्यु लोगों को बड़ा कष्ट देती रहती है। यदि आप आज्ञा दीजिये तो मैं नीच मृत्यु को चूहे के समान पटक दूँ, तो फिर समस्या अपने आप समाप्त हो जायेगी –

पटकौं मीच नीच मूसक-ज्यौं,
सबहिको पापु बहावौं ।। लंका., ८/६

प्रभु ने स्वीकार नहीं किया, बोले – हनुमान, मृत्यु की रचना तो मैंने ही की है। जब मृत्यु के भय के होते हुए भी व्यक्ति इतना अनर्थ करता है, तो जब मृत्यु का भय नहीं रह जायेगा, तब वह न जाने क्या-क्या अनर्थ करेगा ! अत: मृत्यु के भय को तुम मनुष्य के जीवन में बने ही रहने दो।

अन्त में वैद्य, औषधि आदि की प्रक्रिया के द्वारा लक्ष्मणजी के प्राणों की रक्षा होती है, उनकी मूर्छा दूर की जाती है।

मृत्यु का जो ईश्वरीय विधान है, इसकी जो अनिवार्यता है, यही व्यक्ति को उसकी सीमा का ज्ञान कराती है।

असुरों में जो अद्भुत गुण तथा क्षमताएँ हैं, उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर मृत्यु-भय से मुक्त होकर मनमाना आचरण करने की चेष्टा ही उनकी क्षमता का सबसे बड़ा दुरुपयोग है। इतिहास और पुराणों में, असुरों के जितने भी चरित्र मिलते हैं, उनमें एक बात समान है – हिरण्यकशिपु, रावण और भस्मासुर – इनमें से कोई भी अपनी मृत्यु नहीं चाहता। असुर, नश्वर जीवन को चिरन्तन बनाकर, ईश्वर को भुलाकर केवल अपनी ही सर्वशक्तिमत्ता को स्थापित करना चाहता है। हिरण्यकशिपु के चरित्र में भी यही वृत्ति विद्यमान है। समस्या यह है कि उसका कैसे विनाश हो? गोस्वामीजी इस कलियुग की तुलना भी हिरण्यकशिपु से करते हैं।

कई लोगों को काल या युगों का यह विभाजन प्रिय नहीं लगता, युक्तिसंगत नहीं लगता। पुराणों की मान्यता है कि सतयुग ही सर्वश्रेष्ठ युग है। उसके बाद त्रेता है, फिर द्वापर और आज का युग कलियुग है। कलियुग सबसे निकृष्ट युग है। कई लोगों को ऐसा लगता है कि यह विभाजन ठीक नहीं है, क्योंकि प्राचीन इतिहास से लेकर अब तक दृष्टि डालें तो ऐसा लगता है कि अब जितनी उन्नति हुई है, व्यक्ति ने जितनी सफलता प्राप्त की है, उतनी पहले कभी नहीं हुई थी। ऐसी स्थिति में उस युग को सतयुग कहना और इस युग को कलियुग कहना – यह विभाजन युक्तिसंगत नहीं है।

गोस्वामीजी कलियुग की तुलना हिरण्यकशिपु से करते हैं। हिरण्यकशिपु में भौतिक दृष्टि से कोई अभाव था क्या? या यदि यह हम देखें कि उस समय विश्व में हिरण्यकशिपु के समान सक्षम, पुरुषार्थ-सम्पन्न, सामर्थ्यशाली कोई व्यक्ति था क्या? कुछ लोगों के मन में कलियुग का यह अर्थ है कि जिसमें कोई भौतिक उन्नति ही न हो, कोई भौतिक विशेषता ही न हो, वह केवल अभाव और दरिद्रता का युग हो, वह कलियुग है। पर यह सत्य नहीं है। यदि गोस्वामीजी कलियुग की तुलना हिरण्यकशिपु से करते हैं, तो उनका मुख्य तात्पर्य यह है कि भौतिक दृष्टि से उन्नति होने पर भी, पूर्ण उन्नति के शिखर पर होने पर भी, व्यक्ति के जीवन में आध्यात्मिक उन्नति नहीं है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह स्वयं सत्य से वंचित है। यह नहीं कि गोस्वामीजी ने बहिरंग की कोई उपेक्षा की हो कि बाह्य उन्नति की आवश्यकता नहीं है, या बाह्य दरिद्रता को मिटाने की कोई जरूरत नहीं है। ऐसी कोई बात नहीं है। जब 'मानस' में कहा गया –

नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं ।। ७/१२१/११

तो इसका अर्थ ही यह है कि व्यक्ति और समाज बहिरंग दरिद्रता के द्वारा भी ग्रस्त है। और ऐसा व्यक्ति अत्यन्त संकट तथा कष्ट का अनुभव करता है। परन्तु जब वे रामराज्य की व्याख्या करते हैं, तो वहाँ पर जो वाक्य कहते हैं, वह बड़े महत्त्व का है। वे कहते हैं – रामराज्य में, न तो कोई दरिद्र था, न दुखी था और न ही दीन था –

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना ।। ७/२१/५

ऐसा लगता है कि इसमें लोग कम-से-कम दो शब्दों का प्रयोग जो किया गया उससे बचा जा सकता था। क्योंकि साधारणतया यदि किसी से पूछा जाय कि दीनता का अर्थ क्या है? तो वह कहेगा – दरिद्रता। और दरिद्रता का अर्थ क्या है? तो वह कहेंगे – दीनता। पर इस पंक्ति में इन दोनों शब्दों को जोड़ा गया। और इन दोनों शब्दों के बीच में एक शब्द और रख दिया गया – दुखी। – न तो कोई दरिद्र था, न दु:खी था और न दीन था। तो इन शब्दों का प्रयोग जो है, वह बड़ा सोच समझकर किया गया। एक ओर दरिद्रता है, दूसरी ओर दीनता और मध्य में दुख है।

दरिद्रता का सम्बन्ध बाह्य अभाव से है और दीनता का

सम्बन्ध व्यक्ति के मन के दैन्य से है। इन दोनों के मध्य में दु:ख शब्द है। दुख तब तक नहीं मिटेगा, जब तक दरिद्रता और दीनता नहीं मिट जाती – बहिरंग दरिद्रता और मन का दैन्य। इसलिये कहा गया – कौन व्यक्ति अभागा है? – वही जो ज्ञान की दृष्टि से रंक है, दीन है, वही अभागा है –

ग्यान रंक नर मंद अभागी ।। ३/४४/३

इसलिये हमारे पुराणों में जिस पूर्ण आदर्श की कल्पना हुई है, उसमें बहिरंग उन्नति को महत्त्व देते हुए भी, इस बात पर अत्यधिक बल दिया कि यदि बहिरंग उन्नति हमें ईश्वर के सत्य से वंचित करे, तो वह आसुरी दिशा में ले जानेवाली वृत्ति है, वह समाज के लिये कल्याणकारी नहीं है। ऐसा ही हमें हिरण्यकशिपु के चरित्र में भी दिखाई देता है। वह सारी क्षमताएँ अपने व्यक्तित्व में केन्द्रित कर लेता है, परन्तु क्या हिरण्यकशिपु का जीवन एक आदर्श जीवन हो सकता है?

दोनों भाइयों के नाम बड़े सांकेतिक हैं – हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। दोनों में एक शब्द समान है – हिरण्य। हिरण्य का अर्थ है – सोना। इस सोने के बाद एक-एक शब्द और भी दोनों के नाम से जुड़े हुए हैं। अक्ष का अर्थ है नेत्र। हिरण्याक्ष का अर्थ है – जिसकी आँखें सोने की हैं और हिरण्यकशिपु का अर्थ है – जो सोने की पलंग पर सोता है।

इसमें बड़ा संकेत है। जब हम जागते हैं, तो आँखों का प्रयोग करते हैं; और जब सोते हैं, तो पलंग पर जाकर लेट जाते हैं और आँखें मूँद लेते हैं। यहाँ व्यंग्य क्या है? व्यक्ति जागने और सोने में केवल सोने से ही जुड़ा हुआ है। वह सोता भी है तो सोने की पलंग पर और जागकर देखता भी है तो सोने की आँखों से। बड़ा सार्थक व्यंग्य है। सोना बड़ा मूल्यवान है, पर यदि किसी व्यक्ति से प्रस्ताव किया जाय कि आपकी आँख को निकालकर मूल्यवान सोने की आँख लगा दें, तो व्यक्ति प्रसन्न नहीं होगा कि तब तो मेरी आँखें बड़ी मूल्यवान हो जायेंगी। आँखों की सार्थकता उसके बहिरंग मूल्य से नहीं है। आँखों की सार्थकता इसी में है कि उससे हमें दिखाई देता है या नहीं?

जो व्यक्ति या समाज लोभ की वृत्ति से जुड़ा हुआ है, जो लोभ में ही जागता है और लोभ में ही सोता है, सोते-जागते केवल लोभ से ही प्रेरित है। जीवन में विश्राम के सम्बन्ध में यही मान्यता है कि सच्चा विश्राम या सच्चा सुख तभी मिल सकता है, जब पलंग सोने का हो और यही वह आसुरी वृत्ति है। बहिरंग दरिद्रता को मिटाने के लिये स्वर्ण का – धन का बड़ा महत्त्व है, परन्तु जब गरुड़जी ने कागभुशुण्डिजी से पूछा कि सबसे बड़ा दुख कौन-सा है और सबसे बड़ा सुख कौन-सा है? तो वे बोले – दरिद्रता से बढ़कर कोई दुख नहीं है –

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं ।। ७/१२१/१३

इससे तो हर व्यक्ति सहमत होगा। अब दरिद्रता यदि सबसे बड़ा दुख है, तो यह मिटती है धन के द्वारा, सोने के द्वारा, लक्ष्मी के द्वारा; तो अगले वाक्य में यह कहना था कि धन की प्राप्ति ही सबसे बड़ा सुख है। लेकिन कागभुशुण्डिजी ने ऐसा उत्तर नहीं दिया। उन्होंने कहा – दरिद्रता से बढ़कर कोई दुख और सन्त के मिलन से बड़ा कोई सुख नहीं है –

नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं ।
संत मिलन सम सुख जग नाहीं ।। ७/१२१/११

इसका तात्त्विक अभिप्राय यह है कि बहिरंग उन्नति हमारे अभाव को बाहर से भले ही मिटा दे, पर हमारे अन्तर्मन के बढ़ते हुए दैन्य को मिटाने में तो केवल सन्त ही सक्षम हैं। **सन्त ही हमारे दैन्य या दीनता को मिटाकर हमें समग्र और पूर्ण जीवन दे सकते हैं।** पुराणों में युगों का जो विभाजन किया गया है, उसका अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं है कि कलियुग में उन्नति नहीं होती; पर प्रश्न यह है कि वह उन्नति क्या व्यक्ति को ईश्वर से भी जोड़ रही है? यदि व्यक्ति को यह लगे कि सारी उन्नति के मूल में सिर्फ हमारा पुरुषार्थ है, तो स्वाभाविक है कि उसके मन में ईश्वर के प्रति कृतज्ञता की बात नहीं आयेगी। वह यही अनुभव करेगा कि यह तो मेरे पुरुषार्थ, बुद्धि और कर्म का परिणाम है। मान लीजिये एक व्यक्ति पूजा करता है और दूसरा पूजा नहीं करता, तो ऐसा नहीं है कि पूजा करनेवाला बड़ा सफल हो जायेगा, उसकी बड़ी उन्नति हो जायेगी; और पूजा न करनेवाले की उन्नति नहीं होगी। परन्तु दोनों के बीच मूल मानसिक अन्तर क्या होना चाहिये? जब हम केवल अपने प्रयत्न से कोई सफलता प्राप्त करते हैं, तो हमारे जीवन में अहंकार बढ़ता है। क्योंकि हम यह मानने लगते हैं कि यह हमारे प्रयत्न का परिणाम है। परन्तु यदि व्यक्ति ने सफलता को ईश्वर की उपासना से जोड़ दिया, तो उसके अन्तर्मन में यह बात आती है कि मुझे जो सफलता मिली है, यह ईश्वर की कृपा का परिणाम है। अब यह दोनों की सफलता के बाद की स्थिति में भिन्नता है। एक स्थिति में व्यक्ति के अहं की वृद्धि हो रही है और दूसरी में व्यक्ति की वृत्ति में ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का उदय हो रहा है। कई बार इस बात को लेकर यह विवाद होता रहता है कि यह पूजा-पाठ क्यों अपेक्षित है?

महाराज दशरथ को पुत्र नहीं थे, मान लीजिये यदि वे यज्ञ नहीं करते, तो क्या उन्हें पुत्र नहीं होता? उनकी जन्मपत्री में यदि पुत्र होने की बात होगी, तो यज्ञ न करने पर भी उन्हें पुत्र होना चाहिये था और होता भी। जितने लोगों के पुत्र होते हैं, सभी यज्ञ थोड़े ही करते हैं। ऐसा नहीं है कि यज्ञ करनेवाले को पुत्र होता हो और यज्ञ न करनेवाले को न होता हो। बिना यज्ञ किये ही कितने पुत्र हो जाते हैं! तो इसमें कोई यज्ञ की अपेक्षा नहीं है। पर एक अन्तर है।

जब हम उसे यज्ञ से जोड़ देंगे, ईश्वर से जोड़ देंगे, तो दो बात आ जाती हैं। जब हमें यह भान होगा कि यह ईश्वर की दी हुई वस्तु है, तो हमारे मन में अहंता भी नहीं आयेगी और ममता भी नहीं आनी चाहिये। आती है या नहीं, यह एक अलग बात है, पर उसका वास्तविक अर्थ यही हुआ। जब हमने अपने प्रयत्न से नहीं, बल्कि ईश्वर की कृपा से पाया, तो ममता कैसी? और वस्तु जब ईश्वर की है, तो फिर उस पर मेरा अधिकार कैसे होगा? वशिष्ठजी ने महाराज दशरथ को आदेश दिया – यज्ञ करो, तो तुम्हें पुत्रों की प्राप्ति होगी। उसके बाद जब विश्वामित्र उन्हें लेने के लिये आये, तो महाराज दशरथ ने ममता के कारण स्पष्ट रूप से कह दिया – सभी पुत्र मुझे प्राणों के समान प्रिय हैं और राम को देना तो बिल्कुल भी सम्भव नहीं है –

सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं।। १/२०८/५

उनकी ममता का विनाश करने के लिये गुरु वशिष्ठ आये और उन्हें तत्काल याद दिलाया – "राजन्, तुम्हें याद होगा, तुम्हारे पुत्र नहीं थे। एक दिन तुम पुत्र के अभाव से व्याकुल होकर मेरे पास आये थे और तब ये पुत्र तुम्हें कैसे मिले?" – गुरुदेव, आपने यज्ञ कराया। – "तो जब तुम्हें यज्ञ से पुत्र मिला, तो ये पुत्र क्या केवल तुम्हारे ही हैं? आज विश्वामित्र का यज्ञ संकट में है, तो यज्ञ से मिले हुए बेटे को क्या तुम यज्ञ की रक्षा के लिये भी नहीं दोगे? तुम्हें ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं।" साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया – "यज्ञ से चार बेटे मिले, तो कम-से-कम दो तो देना ही चाहिये। पूरी ममता न छोड़ सको, तो आधी ममता छोड़ो।"

हमारे महापुरुषों तथा ऋषि-मुनियों की दृष्टि केवल भौतिक उन्नति पर ही नहीं है। उनके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि भौतिक उन्नति का हमारे अन्त:करण पर क्या प्रभाव पड़ता है। भौतिक दृष्टि से व्यक्ति चाहे जितना भी आगे बढ़ा हुआ क्यों न हो, यदि भौतिक उन्नति हमारी अहंता एवं ममता में वृद्धि करती है, तो वह कलियुग की ही वृत्ति मानी जायेगी। हिरण्यकशिपु इसी वृत्ति का प्रतीक है। इसी कारण गोस्वामीजी उसे कलियुग के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

दूसरी ओर, इसका उत्तर देने की क्षमता किसमें है? – प्रह्लाद में। थोड़ा विचार करके देखें कि हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद में क्या अन्तर है? हिरण्यकशिपु ने जो कुछ पाया, उसे वह अपनी तपस्या तथा साधना का परिणाम मानता है। और प्रह्लाद को अपने जीवन के प्रारम्भ से ही ऐसा बोध होता है कि जो कुछ होता है, उन सबके मूल में ईश्वर की कृपा और अनुकम्पा है। इसीलिये एक ही परिवार में जन्म लेकर भी दोनों की वृत्ति में अन्तर है। प्रह्लाद का जन्म हिरण्यकशिपु के पुत्र के रूप में हुआ। हम सबका जन्म भी भले ही कलियुग में हुआ, परन्तु क्या हमें हिरण्यकशिपु का अनुगमन करना चाहिये, क्या हमें उसी की मान्यताओं को जीवन में स्वीकार करना चाहिये? – कदापि नहीं। प्रह्लाद की आस्तिक भावना है और वह भावना ईश्वर से जुड़ी हुई है। ऐसी स्थिति में उनके अन्त:करण में प्रतिक्षण ईश्वर के प्रति कृतज्ञता-बोध का उदय होता रहता है।

भक्तों की परम्परा में आप देखेंगे, तो उसमें आपको सबसे महत्त्वपूर्ण स्वर कृतज्ञता का मिलेगा। गोस्वामीजी व्याख्या करते हैं – गर्भ में किसने रक्षा की। प्रह्लाद के जीवन में यहीं से भक्ति का प्रारम्भ हुआ। यदि कोई भौतिक वैज्ञानिक इसकी व्याख्या करे, तो वह भी अपनी व्याख्या कर सकता है। भौतिक-विज्ञान के साथ अध्यात्म-विज्ञान की तुलना करने में सबसे कठिन समस्या यही है कि हर चीज की व्याख्या अधिभूत के रूप में भी की जा सकती है। – हिरण्यकशिपु भी अपनी माँ के गर्भ में नहीं रहा था क्या? उसका जन्म क्या उसके स्वयं के पुरुषार्थ का परिणाम था? व्यक्ति का जन्म क्या उसके पुरुषार्थ का परिणाम है? क्या व्यक्ति ने कोई योजना बनायी है कि उसका जन्म कहाँ होगा, किस रूप में होगा? तो हिरण्यकशिपु की दृष्टि इस ओर नहीं जाती।

भक्तों ने स्वयं पुकार कर कहा, 'विनय-पत्रिका' (१७१/५) में गोस्वामीजी भगवान से कहते हैं – प्रभो, आप प्रति क्षण हमारे जीवन में कृपा कर रहे हैं, अनुकम्पा कर रहे हैं –

पल पल के उपकार रावरे, जानि बूझि सुनि नीके।।

इसका यह अर्थ नहीं है कि आप पुरुषार्थ न करें, उद्यम न करें, प्रयत्न न करें; परन्तु साधन, पुरुषार्थ और प्रयत्न करते हुए भी, आप उसकी सीमाओं को जानकर, उसे ईश्वर की कृपा से जोड़ने की चेष्टा अवश्य करें। भक्त के जीवन में यही विलक्षणता दिखाई देती है। गोस्वामीजी का दिया हुआ सूत्र बड़े महत्त्व का है। सम्भव है कि इस युग में भी, जो युग की मान्यताओं को, हिरण्यकशिपु की मान्यताओं को न मानता हो, उस पर प्रह्लाद के समान ही अनेक विपत्तियाँ आयें।

कई बार लोग कहते हैं – दिखाई तो यह देता है कि अच्छे-भले लोग दु:ख पा रहे हैं और बुरे लोग उन्नति कर रहे हैं। यहाँ, एक तो भूल यह कर दी गई कि अच्छे और बुरे व्यक्ति होने को भौतिक उन्नति से जोड़ दिया गया। इसमें दु:ख शब्द का केवल बहिरंग अर्थ लिया गया है। प्रह्लाद के जीवन में कष्ट नहीं आये क्या? कोई पीड़ा नहीं आई क्या? विपत्ति नहीं आई क्या? जब हम युग के प्रतिकूल आचरण करेंगे, तो बाधाएँ अवश्य आयेंगी। यदि तेज हवा चल रही हो और हम हवा को चीरकर उसी दिशा में आगे बढ़ने की चेष्टा करें, तो स्वाभाविक ही हमारी गति में अवरोध आयेगा। सारे समाज और युग की जो मान्यता है, जब कोई व्यक्ति उसके विरुद्ध चलने की चेष्टा करता है, तो स्वाभाविक है कि

उसके सामने अवरोध, विरोध और संकट आते ही हैं।

बरेली में हमारे एक शिष्य ने रामायण का अखण्ड पाठ रखा। पूछा गया कि पाठ में सम्पुट क्या लगेगा? बोले –

जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा ।
करहु सो बेगि दास मैं तोरा ।। १/१३२/७

अर्थात् – हे प्रभो, मैं आपका दास हूँ; आप शीघ्रतापूर्वक वही कीजिये, जिसमें मेरा हित हो। यह आयोजन उनकी पत्नी ने किया था। वे सज्जन इतने आस्थावान नहीं थे, पर उन्होंने चुपचाप स्वीकार कर लिया था। संयोगवश वे नहाने के लिये स्नानघर में गये। उनका पैर फिसला और गिरकर उनके पैर की हड्डी टूट गई। उन्होंने वहीं से चिल्लाकर कहा – पाठ बन्द करो। – क्यों? बोले – "तुमने यही सम्पुट लगाया? और मेरा यही हित हुआ? मेरी हड्डी टूट गई। प्रत्यक्ष रूप से इतनी बड़ी विपत्ति आई हुई देखने के बाद भी रामायण का अखण्ड पाठ करना मूर्खता है।"

ऐसी बात तो कई व्यक्तियों के जीवन में हो सकती है, विशेषकर ऐसे लोगों के जीवन में, जो पहले ही यह मान लें कि हम रामायण-पाठ करते हैं, राम-नाम का जप करते हैं, तो हमारे लिये तो फूल की सड़क बिछ जायेगी, कभी पैर में काँटे नहीं लगेंगे। ऐसा होना कोई निश्चित नहीं है। दोनों ही बातें हो सकती हैं। जब भरतजी चित्रकूट की ओर चलते हैं, तो रास्ते में जितने भी कुश तथा काँटे थे, उन सबको पृथ्वी ने छिपा लिया और भरत के लिये मार्ग सुन्दर हो गया –

कुस कंटक काँकरी कुराईं ।
कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं ।।
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे ।
बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे ।। २/३११/३-४
किये जाहिं छाया जलद
सुखद बहइ बर बात ।। २/२१६

यह तो ठीक है, परन्तु दूसरी ओर जब श्रीराम की यात्रा होती है और वर्णन आता है कि उनके चरणों में काँटे लगे, तो इसका क्या अर्थ हुआ? यदि आपने यही सोच लिया कि आपके मार्ग की कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी, आपका मार्ग काँटों से बिल्कुल मुक्त हो जायेगा, तो आपने जीवन के दूसरे पक्ष पर दृष्टि नहीं डाली। भक्त दोनों में आनन्द लेता है। ईश्वर यदि अनुकूलता दें या हमारी इच्छाओं की पूर्ति कर दें, तो उसे हम उनकी कृपा समझें और हमारे हृदय में उनके प्रति कृतज्ञता का भाव उठे; परन्तु यदि कठिनाइयाँ आयें, तब हमारे अन्त:करण में यह वृत्ति आनी चाहिये कि ईश्वर इसके द्वारा मेरी परीक्षा ले रहे हैं और यह हमारे अन्त:करण के निर्माण के लिये है।

जैसे किसी वस्तु का निर्माण करने के लिये उसे तपाया जाता है, गलाया भी जाता है और ठोका-पीटा भी जाता है, वैसे ही ईश्वर भी हमारा निर्माण करने हेतु हमें इन कठिनाइयों के मार्ग से ले जा रहे हैं, प्रतिकूलताओं में चला रहे हैं; तब नि:सन्देह दोनों ही पक्ष हमारे जीवन में सहायक बनेंगे। प्रह्लाद की वृत्ति इसी प्रकार की थी। वे प्रारम्भ से ही रामनाम का जप करते हैं, पर विपत्तियाँ एक के बाद एक आती ही जाती हैं। कभी उन्हें सर्प से डसाया गया, तो कभी पर्वत से गिराया गया; कभी उन्हें समुद्र में डाला गया, तो कभी आग में जलाया गया। हम विचार करके देखें प्रह्लाद के जीवन में जो समस्या आई, वह प्रत्येक साधक के जीवन में भी आ सकती है। कई बार हम ऊपर से नीचे गिरते हैं; कई बार चिता की अग्नि हमें जलाती है और कई बार काम का सर्प हमें डसता है; परन्तु प्रह्लाद की विशेषता यह है कि वे किसी भी संकट के समय भगवान का नाम और उस पर विश्वास नहीं छोड़ते।

यही राम-नाम की महिमा के प्राकट्य का उपाय है। शबरी को उपदेश देते समय, नवधा भक्ति के प्रसंग में, भगवान राम भी सूत्र यही देते हैं। उन्होंने कहा – मेरे नाम या मेरे मंत्र का जप करना – यह मेरी पाँचवी भक्ति है। परन्तु उन्होंने मंत्र जप के साथ एक वाक्य जोड़ दिया – दृढ़ विश्वासपूर्वक मेरे नाम या मंत्र का जप करना –

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा ।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा ।। ३/३६/३

अगर विश्वास नहीं होगा, तो हम हिल जायेंगे और जप को छोड़ देंगे, यहाँ तक कि भगवान की भक्ति ही छोड़ देंगे।

❖ (क्रमशः) ❖
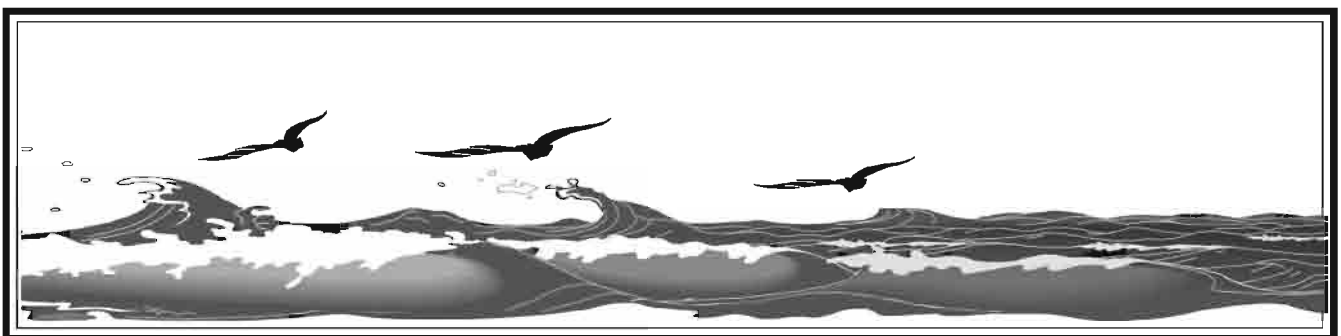
योगः कर्मसु कौशलम्

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत् शृणु ॥
यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

– अर्थात् ''अपने अपने कर्मों में लगे रहकर मनुष्य सिद्धि को पा लेता है। कैसे पा लेता है? – यह तू मुझसे सुन। जिस परमात्मा से समस्त चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसकी अपने कर्मों द्वारा पूजा करते हुए मनुष्य सिद्धि को पा लेता है।''

बड़ी अद्भुत बात कह दी श्रीकृष्ण ने। कर्मों से पूजा करने को वे कहते हैं। हमने धूप, चन्दन, फल-फूल आदि से ईश्वर की पूजा करने की बात सुनी थी, पर यहाँ हम एक नयी बात सुनते हैं – अपने कर्मों से भगवान की पूजा करनी चाहिये। यह कर्मों द्वारा पूजा किस प्रकार होती है? उसका क्या तात्पर्य है? यही कि कर्म किये जाओ, पर उसके फल को भगवत् समर्पित कर दो। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि चोर चोरी करे और पाप मुक्त होने के लिए सोचे कि मैं इसका फलाफल ईश्वर को समर्पित करता हूँ, दुराचारी व्यक्ति दुष्कर्म करे और ईश्वर-समर्पण की आड़ ले ले। नहीं, गीता का तात्पर्य यह नहीं है।

वह अवश्य मनुष्य को कर्मों का फलाफल ईश्वर के चरणों में सौंप देने के लिए कहती है, पर साथ ही यह भी बता देती है कि कर्म के अन्य रूप भी होते हैं, जिनसे हमें बचकर चलना पड़ता है। कृष्ण कहते हैं –

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

– ''अर्जुन, कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस सम्बन्ध में तत्त्वज्ञ मुनि भी कुछ ठीक से नहीं कह पाते, इसलिए मैं तेरे सामने कर्म की चर्चा करूँगा जिसके तत्त्व को जानकर तू अशुभ से तर जाएगा। हे पार्थ, कर्म क्या है – यह जान लेना चाहिए। विकर्म और अकर्म किसे कहते हैं – यह भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है।''

सचमुच कर्म का रहस्य दुर्बोध-सा मालूम पड़ता है। कृष्ण कर्म के तीन रूप बताते हैं – पहला कर्म, दूसरा विकर्म और तीसरा अकर्म। विकर्म विपरीत कर्म को कहते हैं – ऐसे कर्म जो शास्त्र-निषिद्ध हैं; जिनको समाज बुरी निगाह से देखता है। अकर्म जड़ता या आलस्य को कहते हैं। कर्म करते समय हमें उसके इन दो रूपों से बचना पड़ता है और जीवन के कर्तव्य-कर्मों को करते हुए उनका फलाफल भगवान् पर छोड़ देना होता है। यही योग है। कहा गया है – 'योगः कर्मसु कौशलम्'। अर्थात् कर्म की कुशलता ही योग है। कई लोग इसकी बड़ी विचित्र व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि यदि मनुष्य अपना काम बड़ी कुशलता से कर ले, तो वह योगी कहलाने के लायक है। तब तो तात्पर्य यह हुआ कि यदि सुनार बड़ी कुशलता से अपना काम करता हो, तो वह योगी है; दुकानदार बड़ी कुशलता से अपनी दुकान का काम करता हो, तो वह योगी है। और इसी प्रकार एक पाकेटमार बड़ी कुशलता से अपना काम कर लेता हो, तो वह भी योगी बन गया। पर क्या हम कभी ऐसे तर्क को स्वीकार कर सकते हैं? नहीं। तब फिर कर्म की कुशलता का क्या मतलब हुआ?

श्रीरामकृष्ण एक उदाहरण देते हैं – शहद का एक छत्ता है। उसमें से हम शहद निकालना चाहते हैं। हमें कुशल कब कहा जायेगा? तब, जब हम शहद इस प्रकार निकालें कि हमें मधुमक्खियाँ काट न खायें। इसी प्रकार, कर्म की कुशलता तब होती है जब कर्म तो किये जाएँ, पर कर्म का बन्धन कर्ता पर न लग सके। 'योगः कर्मसु कौशलम्' का यही अर्थ है। ❑❑❑

आत्माराम के संस्मरण (१३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

वाराणसी में भिक्षाटन (१९२०-२१)

काशी में विश्वनाथ-अन्नपूर्णा के राज्य में अति प्राचीन काल से ही अनेक साधु-सन्त तथा संन्यासी निवास करते हैं। धर्मराज्य के धुरन्धर विद्वान् लोग भी यहाँ वैदिक धर्म की शिक्षा दिया करते हैं। संन्यासी यहाँ आकर बड़ा हर्षित है। शिव के सान्निध्य में रहने का अवसर पाकर खूब आनन्दित है।

भिक्षाटन के लिये निकला है। ''नारायण हरि'' – कहते हुए विश्वनाथ मुहल्ले के द्वार-द्वार पर जा रहा है। जिन लोगों के घर में भोजन पक चुका है या पक रहा है, उन्हीं घरों की महिलाएँ यत्न तथा श्रद्धापूर्वक भिक्षा दे रही हैं। कहीं रोटी-दाल मिलती है, कहीं रोटी-सब्जी, तो कहीं थोड़े अचार के साथ, या कहीं केवल रोटी मिलती है। संन्यासी ने देखा कि भिक्षा देनेवाली सभी उत्तर भारतीय हैं।

संन्यासी ने सोचा कि क्यों न एक बार बंगाली टोले में भिक्षाटन के लिये जाकर देखा जाय। एक दिन गया। परन्तु अनेक मकानों के द्वार पर कई-कई बार 'नारायण हरि' – बोलने पर भी कोई उत्तर नहीं मिला। (दो बार ही बोलने का नियम है, बहुत हुआ तो तीन बार।) किसी-किसी घर से कोई बाहर भी निकला, तो पैसे या चावल लेकर आया।

– ''मैं संन्यासी हूँ। पका हुआ अन्न ही लेता हूँ।''

इसी प्रकार ग्यारह बजे से लेकर डेढ़-दो तक बजने को आ गये। एक वृद्धा चार मिठाइयाँ लेकर घर लौट रही थीं। संन्यासी को देखकर बोलीं – ''बाबा, इस समय क्या किसी के घर भिक्षा के लिये जाते हैं! यह लो, थोड़ा जलपान कर लेना।'' संन्यासी ने उसी को ले जाकर गंगा के घाट पर जलपान किया। एकमात्र वे ही मिलीं, जिन्हें सम्भवत: पता था कि संन्यासी को केवल पका हुआ अन्न ही दिया जाता है।

बंगाल में इसका ज्ञान नहीं है। वैष्णव-प्रधान अंचल है और जाति-पाति, स्पर्श आदि की बात होने के कारण सभी कच्चा – बिना पका हुआ अन्न ही भिक्षा में स्वीकार करते हैं। परन्तु ये बंगाली लोग तो काफी काल से काशीवास कर रहे हैं, अनेक संन्यासियों का दर्शन कर चुके हैं, परन्तु स्थानीय लोगों का आचरण देखकर भी इन लोगों ने सीखा नहीं है।

अगले दिन भी संन्यासी बंगाली लोगों के दूसरे मुहल्ले में भिक्षा के लिये गया। यहाँ भी वैसा ही अनुभव हुआ। भूख से आकुल होकर अन्तिम प्रयास के रूप में अद्वैत आश्रम के पास की एक गली में जाकर एक नये मकान के सामने उसने ज्योंही – 'नारायण हरि' – कहा, ऊपर से एक माँ ने कहा – ''आइये महाराज, घर के भीतर आ जाइये।'' – ''नहीं, नहीं, मैं इस समय भिक्षा के लिये निकला हूँ, भीतर नहीं आऊँगा।'' वे नीचे उतर आयीं – ''आइये। सब तैयार है। लड़के काम से लौटे नहीं हैं। थाली लगा देती हूँ।''

– ''नहीं माँ, अभी तो मैं भिक्षा के लिये निकला हूँ। जो कुछ देना है, इस थैले में दे दीजिये।'' – ''हे भगवान, दाल-भात कैसे दूँगी! सब मिलकर एक हो जायेगा!''

– ''हुआ करे, पेट के भीतर जाकर तो सब एकाकार हो ही जायेगा।'' – ''ठीक है, देखती हूँ'' – कहकर वे घर के भीतर गयीं और पत्ते का एक ठोंगा बनाकर उसमें बहुत-सा अन्न ले आयीं। उसमें पीठे की मिठाई थी और एक छोटे-से ठोंगे में थोड़ी-सी खीर भी थी।

– ''ओ माँ, इतना क्यों लायी हो! थोड़ा-सा दिया जाता है, क्योंकि संन्यासी पाँच या सात घरों से थोड़ा-थोड़ा लेकर अपना पेट भरता है।'' – ''इतनी देर हो गयी है, अब कहाँ जायेंगे?'' इतना कहकर उन्होंने उसे संन्यासी की झोली में डाल दिया। मानो साक्षात् अन्नपूर्णा, सदा सौम्या, आनन्दमयी!

संन्यासी भिक्षा लेकर अद्वैत आश्रम में पहुँचा। उस समय वहाँ उपस्थित थे रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष – राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी)। ठीक उसी समय (लगभग डेढ़ बजे) कमरे से बाहर निकले थे। देखते ही बोले – ''अरे, लगता है भिक्षा ले आया है। यहाँ ला, देखूँ।''

पास ले जाते ही थोड़ा-सा अन्न लेकर मुख में डालकर बोले – ''माधुकरी का अन्न – पवित्र अन्न है।'' इसके बाद स्वामी शुद्धानन्दजी से बोले – ''ओ सुधीर, माधुकरी का अन्न बड़ा पवित्र अन्न होता है।''

महाराज ने ज्योंही कहा, त्योंही उन्होंने तो थोड़ा-सा लिया ही, अन्य अनेक साधुओं तथा सभी आश्रमवासी भी आनन्दपूर्वक वह पवित्र अन्न थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करने लगे। इस पर वे बोले – ''तुम लोगों ने तो सब खतम कर डाला, अब वह

क्या खायेगा? उसके लिये मैंने थोड़ी-सी खीर का प्रसाद रखने को कहा था। देखो, रखा है या नहीं !''

खीर रखी था, और जो थोड़ा-सा भिक्षान्न बच गया था, उसी को खाकर संन्यासी का वह दिन बीता।

आश्रम में प्रतिदिन शाम को 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' का पाठ होता था। कुछ दिनों से संन्यासी ही वह पाठ किया करता था। उसी दिन शाम को पाठ के समय वे भिक्षादात्री माँ तथा कुछ अन्य महिला-भक्तों ने यह समझाने को कहा कि – ''माधुकरी क्या है? क्यों किया जाता है? घर में बैठकर क्यों नहीं खाया जाता? आदि आदि।

संन्यासी ने संक्षेप में बताया कि संन्यासी का क्या धर्म है – ''वे समाज के किसी व्यक्ति-विशेष के ऊपर भार न हों, इसी विचार से संन्यासी के लिये इस माधुकरी की व्यवस्था की गयी है। पाँच-सात घरों से थोड़ा-थोड़ा अन्न लेने से ही उनके शरीर का पोषण हो जाता है। जो मिल जाता है, वही पर्याप्त होता है। जिस दिन नहीं मिलता, उस दिन वे उपवास करते हैं। परिव्राजक संन्यासी अन्न का संचय नहीं करता। आश्रमधारी गृहस्थ के समान अन्न-संचय करने को बाध्य होते हैं। संन्यासी दो बार, या बहुत हुआ तो तीन बार 'नारायण हरि' कहकर आवाज देंगे। इससे जो अन्न प्राप्त होगा, उसी को ब्रह्मार्पण करके ग्रहण करेंगे। उन्हें दिया हुआ अन्न पवित्र ही रहता है, स्पर्श आदि दोषों से दूषित नहीं होता।

''उत्तर भारत की महिलाएँ एक नियम का पालन करती हैं, और वह यह है कि पहली रोटी देवता के लिये अलग करके रख दी जाती है। वही बहुधा साधु-सन्त या संन्यासी को दिया जाता है। आखिरी की दो-एक रोटियाँ गो-माता या कुत्तों के लिये रख दी जाती हैं।

''यदि अधिक भिक्षार्थी आ गये, तो कोई भी रोटी दे दी जाती है। केवल गो-माता या कुत्ते का हिस्सा किसी को नहीं दिया जाता। आप लोगों की हंडी में भात रहे, तो उसी में से संन्यासी को दिया जा सकता है। संन्यासी बहुधा १२ बजे के बाद ही भिक्षा के लिये जाते हैं। उनका विचार है कि गृहस्थ से बचा हुआ अन्न ही लिया जाय। उसे खाने से दोष नहीं है, क्योंकि गृहस्थ लोग स्वयं खाकर तृप्त हो चुके हैं और वे किसी के हिस्से से नहीं, बल्कि बचे हुए अन्न से दे रहे हैं।''

इस पर महिलाएँ बोलीं – ''हे भगवान ! हम लोग क्या इतना सब जानती हैं ! पहली बार यह सब सुनने को मिला।''

इसके बाद से किसी के घर जाने से ये बंगाली माताएँ संन्यासी को बड़े यत्नपूर्वक भिक्षा दिया करती थीं।

नर्मदा के तट पर – होशंगाबाद

पूज्यपाद राजा महाराज (ब्रह्मानन्दजी) उन दिनों (१९२०-२१) काशी में निवास कर रहे थे। वहीं काशी में ही उनका अन्तिम बार दर्शन हुआ। संन्यासी ने एक दिन उनके समक्ष नर्मदा का प्रसंग उठाया। संन्यासी ने ऐसा सुन रखा था कि वे तथा पूज्य हरि महाराज (तुरीयानन्दजी) अपनी परिव्रज्या के दौरान होशंगाबाद में नर्मदा के तट पर कुछ दिन रहे थे। दोनों दो कुटियों में निवास करते थे। हरि महाराज भिक्षा करके ले आते और दोनों उसी को खाकर तपस्या करते।

इसीलिये संन्यासी ने उन पुरानी बातों का प्रसंग उठाया। राजा महाराज – ''हाँ, हम लोग कुछ दिन थे। बड़ा आनन्द मिलता था। नर्मदा-तट पर ध्यान करने से सिद्धि मिलती है और इस काशी में जप करने से सिद्धि मिलती है।''

राजा महाराज के बेलूड़ मठ लौट जाने के बाद संन्यासी होशंगाबाद गया। वहाँ पहुँचकर खोज करने पर जब वैसी कोई कुटिया नहीं मिली, तो वह नर्मदा में स्नान करके घाट के ऊपर स्थित एक वटवृक्ष की छाया में बैठ गया। (वह वृक्ष पुराने पुल के पास था। उससे जुड़ा हुआ एक छोटा-सा शिव-मन्दिर था। बाद में बाढ़ ने इन सबका ध्वंस करके लगभग लुप्त-सा कर दिया है।)

दो सज्जन घाट पर आये और स्नान-संध्या आदि के बाद संन्यासी के पास आ पहुँचे। उनमें से एक ने पूछा – ''कब आना हुआ?'' और – ''भिक्षा हुई है या नहीं?''

जब उन्हें ज्ञात हुआ कि संन्यासी सबेरे ही आया है और अब तक उसकी भिक्षा नहीं हुई है, तो उन्होंने तत्काल बगल में स्थित बाबाजी के आश्रम में भिक्षा की व्यवस्था कर दी। एक साथ ही खाना हुआ। उसके बाद नर्मदा-तट पर आने का उद्देश्य पूछने पर संन्यासी ने बताया कि वह एकान्त स्थान में कुछ दिन साधन-भजन करने की इच्छा से आया है। एक सज्जन ने कहा – ''ऐसा एकान्त स्थान बता सकता हूँ, जहाँ वन्य पशुओं को छोड़ शायद ही कभी किसी आदमी से भेंट-मुलाकात हो। जायेंगे आप? भिक्षा की भी व्यवस्था हो जायेगी।'' संन्यासी को तो मानो मुँह माँगी मुराद मिल गयी। वह तत्काल राजी हो गया।

उसी दिन शाम की गाड़ी से उन लोगों के निमंत्रण पर रवाना हुआ। परिचय मिलने पर ज्ञात हुआ कि उनमें से एक जन भोपाल रियासत के रेवेन्यू दीवान हैं और दूसरे व्यक्ति भोपाल के टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज के अध्यक्ष तथा नवाबजादों के शिक्षक भी हैं। पुल पार होते ही भोपाल राज्य का एक छोटा-सा स्टेशन। वहाँ पैसेंजर ट्रेन ठहरती थी। प्लेटफार्म पर एक्साइज पुलिस के इंस्पेक्टर ड्यूटी पर खड़े थे। गाड़ी के ठहरते ही दीवान साहब ने उन्हें इशारे से अपने पास बुलाया और एक कागज के टुकड़े पर कुछ लिखकर संन्यासी से बोले – ''यह गाड़ी की व्यवस्था कर देगा। राज्य के ग्राम मर्दानपुर पहुँचकर तहसीलदार को यह पत्र देते ही वह सारी

व्यवस्था कर देगा। पास के ही जंगल में लगभग डेढ़ मील दूर एक भग्न शिव-मन्दिर है। इसे निर्देश देते ही रहने की सारी व्यवस्था हो जायेगी; और एक ब्राह्मण प्रतिदिन आपके लिये भिक्षा पहुँचा दिया करेगा। जो भी आवश्यकता होगी, सब नि:संकोच कहियेगा। खर्च का भार हम लोग उठायेंगे। इसके लिये चिन्ता मत कीजियेगा। आवश्यकतानुसार मास्टरजी को पत्र लिखने पर भिजवा दिया जायेगा। नमस्ते!

गाड़ी चली गयी। इंस्पेक्टर घर ले गये। यत्नपूर्वक चाय -नाश्ता कराने के बाद स्टेट की बैलगाड़ी तैयार करने का हुक्म हुआ। हाथी के समान बड़े-बड़े बैलों की जोड़ी देखकर संन्यासी को बड़ा आनन्द हुआ। कितने सुन्दर पशु थे! पूछने पर पता चला कि उस जोड़ी की कीमत चार हजार रुपये हैं। जंगल के मार्ग में बड़े उपयोगी हैं। आप देखेंगे कि ये सारी रात समान गति से चलते जायेंगे। मर्दानपुर पहुँचकर ही रुकेंगे। अभयारण्य के भीतर घोर जंगल के बीच से ३० मील का मार्ग है। गाड़ीवान को देखकर संन्यासी को भय हुआ। वह १७-१८ साल का बालक था। हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण उस जंगल के मार्ग से, रात में ही गाड़ी ले जायेगा!

इंस्पेक्टर ने पूछा – "तेरा बाप कहाँ है?" वह बोला – "उन्हें बुखार हुआ है, इसीलिये मैं आया हूँ।" इंस्पेक्टर ने कहा – "यह लड़का भी अक्सर ले जाता है; होशियार है।"

इसके बाद रवाना होने के पहले एक मजेदार घटना हुई। इंस्पेक्टर ने एक किनारे ले जाकर, थोड़ा 'ही-ही' कर हँसते हुए कहा – "आप अवश्य उस जमींदार के खून के मामले में आये हैं, आप खुफिया पुलिस के आदमी हैं न? मुझसे मत छिपाइये, मैं भी तो पुलिस का ही आदमी हूँ। बहुत चेष्टा करने पर भी खूनी का पता नहीं चल सका है, इसीलिये लगता है कि दीवानजी ने बाहर से आपको बुलवाया है।"

संन्यासी ने बारम्बार कहा – "नहीं भाई, मैं साधु हूँ, तपस्या करने के लिये आया हूँ।" परन्तु उसने बिल्कुल भी विश्वास नहीं किया।

संध्या होने को थी। गाड़ी रवाना हुई। बैल तेजी से चलने लगे। गाड़ी में पुआल बिछाकर गद्दी बना हुआ था और उसके ऊपर जाजिम बिछा हुआ था। गाड़ी खुली हुई थी, दोनों तरफ पकड़ने के लिये रेलिंग की व्यवस्था थी। गाँव से बाहर निकलते ही गाड़ी जंगल में प्रविष्ट हुई। थोड़ी दूर जाने के बाद ही बैल चारों पाँव उठाकर दौड़ने लगे। लड़का उन्हें रोकने की बड़ी कोशिश कर रहा था, परन्तु उसकी चेष्टा निरर्थक थी। संन्यासी किसी प्रकार उस रेलिंग को पकड़कर बैठा रहा। सोच रहा था कि कहीं इन्होंने बाघ-वाघ तो नहीं देख लिया! धड़ाम की आवाज के साथ एक पेड़ से टक्कर लगी। संन्यासी और वह लड़का भी छिटक कर दूर जा गिरे। गाड़ी मजबूत थी, इसलिये उसे कोई नुकसान नहीं हुआ। पर गाड़ी को लेकर बैल आगे भाग गये। लड़का भी गिरते ही तुरन्त उठकर गाड़ी के पीछे दौड़ पड़ा। संन्यासी के हाथ में थोड़ा कट गया था, परन्तु चोट कोई विशेष नहीं थी। उसने बाघ के आक्रमण की आशंका से चारों ओर नजर घुमाकर देखा, परन्तु बाघ के दर्शन नहीं हुए। परन्तु दोनों बैल इतने घबड़ा क्यों गये थे! इसके बाद देखा कि एक वटवृक्ष के नीचे दो बड़ी नीलगायें खड़ी हैं और संन्यासी की ओर देख रही हैं। तो क्या इन्हीं को देखकर बैल घबड़ा गये थे! खैर।

लड़के को ढूँढ़ने की आसा में संन्यासी पत्थरों से भरे हुए ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर आगे बढ़ा। थोड़ी दूर चलने के बाद देखा – जंगल के बीच एक खुली जगह में लड़का गाड़ी को लेकर प्रतीक्षा कर रहा है और हल्का-सा हँस रहा है।

– "क्यों रे, तुझे चोट तो नहीं लगी?"

वह बोला – "नहीं। ऐसे ही थोड़ा-थोड़ा लग जाता है। कहीं आपको तो चोट नहीं लगी?"

– "नहीं, बस, थोड़ा-सा छिल गया है! तो बैल इतने घबड़ाकर क्यों दौड़े? वहाँ तो बाघ नहीं था, केवल नीलगाय का एक जोड़ा खड़ा था।"

– "हाँ, इसीलिये ऐसा किया। ये लोग नीलगाय से बहुत डरते हैं, क्योंकि वे इन्हें सींगों से गोदकर मारती हैं। बाघ से इतना नहीं डरते, बल्कि उसे मारने को दौड़ते हैं।"

गाड़ी फिर चल पड़ी। संध्या के बाद जंगल की नीरवता में एक तरह की भयंकरता भी विद्यमान रहती है। चारों ओर 'कुक-कुक' और 'खड़-खड़' की आवाज करते हुए जन्तुओं का इधर-उधर भागना। थोड़ी देर बाद वनराज बाघ की हुंकार सुनाई देने लगी। बैल समान रूप से पाँव रखते हुए चल रहे थे। लड़के ने बैलों के लगाम की रस्सी को गाड़ी की एक खूँटी से बाँध दिया। हे भगवान! इसके बाद वह अपने शरीर को चादर से ढँककर पाँव समेटकर सो गया। यदि नींद की अवस्था में उसका सन्तुलन बिगड़ा, तो वह नीचे गिरकर मरेगा! बीच-बीच में रास्ता ढालू था और पत्थरों से भरा होने के कारण गाड़ी 'खड़ाम-खड़ाम' करके उछल चल रही थी। दोनों बैल भी तेज गति से दौड़ रहे थे। परन्तु लड़का तो निश्चिन्त भाव से सो रहा था।

बाध्य होकर संन्यासी ने लगाम की रस्सी को पकड़ा और बैलों को नियंत्रित करने का प्रयास करने लगा। रस्सी पकड़ते ही दोनों बैलों ने सींग हिलाकर मानो सूचित किया कि रस्सी को मत पकड़ो। लगता है कि खिंचाव से ही वे समझ गये थे कि यह कोई नया अनाड़ी आदमी है। ये दोनों सुन्दर प्राणी सारी रात समान रूप से लगातार चलते रहे। संन्यासी को आशंका थी कि (१) यदि लड़का गिरकर घायल हो जाय

और (२) यदि बाघ आकर बैल को मार डाले, तो क्या होगा? चिर काल तक अपने कलंकित मन के साथ रहना होगा और दीवानजी तथा मास्टरजी कठिनाई में पड़ जायेंगे, राजकोप के शिकार होंगे। अस्तु।

रास्ते में और कोई दुर्घटना नहीं हुई। सुबह होते-होते गाड़ी मर्दानपुर जा पहुँची। लड़के ने जाकर तहसीलदार को सूचना दी। दो-एक हिन्दू युवकों को साथ लिये वे मुसलमान सज्जन आकर हाजिर हुए और स्वागत करने के बाद गाँव के बैंक-मैनेजर के घर ले गये। जब तक दूसरी कोई व्यवस्था नहीं हो जाती, तब तक उन्हीं के आतिथ्य में रहना था। (प्रथम महायुद्ध के समय जर्मन लोगों का एलाएंज बैंक ऑफ इंडिया बन्द हो गया। उन लोगों ने भोपाल रियासत की हर तहसील में एक-एक बैंक खोल रखा था। तहसील के सारे रुपये उसी बैंक में जमा किये जाते थे। एलाएंज बैंक के बन्द हो जाने पर उसकी शाखाएँ यथावत् राज्य की ओर से चलायी जा रही थीं।) वह युवक मास्टरजी का अपना भतीजा था और दूसरा उसका सहकारी कर्मचारी था।

संध्या के समय गाड़ी को वापस भेजने हेतु तैयार किया गया। कर्तव्यनिष्ठ तहसीलदार दो-एक लोगों को साथ लेकर भोपाल जा रहे थे। बताया कि २-१ दिन में लौट आयेंगे।

जंगल के किनारे ही गाँव था। ठीक बगल में नर्मदा का शान्त प्रवाह। जल निर्मल और शीतल था। पहाड़ी अंचल – बड़ा सुन्दर स्थान था। संन्यासी को अच्छा ही लगा। पहले दिन इधर-उधर घूमकर देखा और गाँव के लोगों की 'बातें' सुनी। शरीर अत्यन्त थका होने के कारण संध्या के बाद ही नींद आ गयी। पिछली रात भी तो जागरण में ही बीती थी।

अगले दिन स्नान, जलपान आदि करने के बाद संन्यासी बैंक के सहकारी को साथ लेकर दीवानजी द्वारा बताये गये उस पुराने मन्दिर का भग्नावशेष देखने गया। मन्दिर विशाल था और उसका प्रांगण नर्मदा के ठीक किनारे ही स्थित था। बड़ा ही मनोरम दृश्य था और बिल्कुल एकान्त ! केवल दिन के समय गोप-बालक गायें चराने आया करते थे। निकट ही अत्यन्त घना जंगल था।

कभी यह किसी समृद्ध राजा द्वारा बनवाया गया था, जिसे बाद में मुसलमानों ने ध्वंस कर दिया था। अब यहाँ प्रतिवर्ष गोंड आदिवासियों का एक मेला लगता है। तब वे लोग दल-के-दल आकर इस शिव-मन्दिर के घाट पर स्नान करते हैं, नाचते-गाते हैं और उसके बाद खा-पीकर चले जाते हैं।

मुख्य मन्दिर का गुम्बद थोड़ा-सा टूटा होने के बावजूद भीतर ठीक था। शान्ति स्थापित हो जाने के बाद सम्भवत: किसी ने पुन: इसमें शिवलिंग की स्थापना करायी थी। सभी कमरे तथा द्वार टूटे हुए थे और छत बिल्कुल नहीं था। इन्हीं में से एक छत-विहीन कमरा मन्दिर के बाहर विशाल प्रांगण के सम्मुख स्थित था। उसमें से सीधे नर्मदा का जल-प्रवाह दिखाई देता था। संन्यासी को पसन्द आया। दरवाजे-खिड़कियाँ नहीं थीं। तीन तरफ १५-१६ फीट ऊँची दीवाल थी। एक ओर मन्दिर के भीतर की ओर के भवन की दीवार थी। इस प्रकार वह जंगली जावनरों के आक्रमण से संरक्षित था।

सहकारी कर्मचारी बोले – "दरवाजा नहीं है और यह कमरा बाहर की ओर है। पास ही जंगल है। यहाँ बाघों का बड़ा उपद्रव है। अभयारण्य (रिजर्व फारेस्ट) होने के कारण नवाब-बेगम साहेबा के खास हुकुम के बिना यहाँ कोई भी बाघ का शिकार नहीं कर सकता है। इसीलिये भीतर की ओर का कोई कमरा लेने से ही अच्छा रहता।" संन्यासी ने कहा – "रात में दरवाजे के ठीक सामने धूनी जला कर रखूँगा। इससे जंगली जावनरों का कोई भय नहीं रहेगा।"

तहसीलदार के लौट आने पर उसे बताया कि वह मन्दिर ही पसन्द है। इसे थोड़ा साफ-सूफ करके कमरे को रहने लायक करवा दीजिये और धूनी के लिये काठ रखवा दीजिये। यह भी निर्धारित हुआ कि एक ब्राह्मण प्रतिदिन रोटी-सब्जी या दाल तथा आधा सेर दूध पहुँचा जाया करेंगे। संन्यासी रात को वह दूध ही पीकर रहेगा।

उस दिन अमावस्या थी। संन्यासी वहीं रहने गया। साथ में तहसीलदार और वे ब्राह्मण भी थे। आसन जमाने के बाद विविध विषयों पर चर्चा करते हुए काफी समय बीत गया। तहसीलदार बड़े अच्छे आदमी थे। जाते समय बोले – "स्वामीजी, यहाँ पर एक जिन्न रहता है। लोगों ने उसे देखा है। इसीलिये भय से यहाँ कोई रहता नहीं। साधु-सन्त लोग भी उसे देखने के बाद यह स्थान छोड़ कर चले जाते हैं। इसीलिये आपको बताया, नहीं तो दीवान साहब कहेंगे कि बताया क्यों नहीं। अब रहना या न रहना – आपकी इच्छा पर निर्भर करता है। गाँव के पास ही एक छोटा-सा मन्दिर है। वहाँ आपके लिये व्यवस्था हो सकती है। पहले इसलिये नहीं कहा कि इससे कहीं आपके मन में यह शंका न हो कि मैं यह कहकर आपको टालना चाहता हूँ।"

संन्यासी – "आपने अच्छा किया है। इसके लिये आपको बहुत धन्यवाद। संन्यासी ने भी कभी जिन्न देखा नहीं। इसी मौके से एक बार देख लेगा।" – "जैसी आपकी इच्छा ! जैसी आपकी इच्छा !" – कहते हुए दोनों चले गये।

संन्यासी ने 'जय माँ', 'जय जगदम्बा' बोलते हुए धूनी जलायी। चारों ओर निस्तब्धता फैली हुई थी। अमावस्या का घनघोर अन्धकार फैला हुआ था। थोड़ी रात होते ही वन्य पशुओं की तरह-तरह की आवाजें और उसके बाद वनराज बाघ की गर्जना सुनाई देने लगी। इन सब से संन्यासी को

बड़ा आनन्द मिल रहा था। सामने दप-दप जल रही धूनी संन्यासी के मन को वैदिक युगीन ऋषियों के तपोवनों की याद दिला रही थी। धूनी एकाग्रता लाती है, जो कि ध्यान के लिये अतीव आवश्यक है।

संन्यासी शान्त चित्त से धूनी के सामने बैठा था। लगभग ५० गज दूर सहसा देखा – एक नीलाभ अग्निशिखा जल उठी ! अरे, यह क्या है? यही जिन्न है क्या? थोड़ी देर बाद एक बार फिर वही रोशनी। एक बार फिर। एक बार फिर। संन्यासी ने देखा कि वह अग्निशिखा एक विशेष सीमा के भीतर ही जलकर फिर बुझ जाती है। यह है क्या? यदि वह स्थान कीचड़ से भरा होता, तो फिर उसके दरारों से दूषित गैस निकलकर उस प्रकार जल उठती। परन्तु बिल्कुल सूखे पत्थरों से बने हुए प्रांगण में वैसा होना सम्भव नहीं है। तो फिर यह क्या है? कहीं यह शंखिनी जाति का विषधर सर्प तो नहीं है, जिसके मुख में फासफोरस रहता है और कीड़े-मकोड़े खाते समय वह भक से निकलकर अग्नि के समान जलता है। उसी के द्वारा वह जीवों को पकड़कर खाता है।

यदि ऐसा हो, तब तो सावधान रहना होगा। और यदि वह 'जिन्न' (भूत) हो, तो पास आने पर उसके साथ डण्डेबाजी भी की जा सकती है। (पास में एक बड़ी लाठी थी)। परन्तु उसकी प्रतीक्षा करते और बाघ का गर्जन तथा हिरनों की 'कुक'-'काक' आवाज सुनते सारी रात बीत गयी।

भोर हो जाने पर संन्यासी हाथ में डण्डा लिये साँप की खोज में गया और जिस स्थान पर अग्निशिखा घूम-फिर रही थी, वहाँ जाकर देखने लगा। देखा कि पत्थरों के बीच एक काफी बड़ा छेद था। उसके भीतर साँप है या नहीं, यह जानने के लिये उसने लाठी को छेद में घुसाया। १०-१२ हाथ दूर उस बिल का दूसरा रास्ता था, उसी से होकर एक छोटा-सा पिकैनीज पॉकेट डाग जैसा जन्तु बाहर निकला। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी, पूँछ घने बालों के कारण मोटी थी और रंग कुछ-कुछ सियार के जैसा था। अच्छा, तो यही वह जिन्न है ! यही सबको डराता है !

संन्यासी को लगा कि उसे पकड़ा जा सकता है। इसके लिये जब वह बिल के उस दूसरी ओर गया, तो जन्तु भीतर घुसकर इस ओर बाहर निकल आया। थोड़ी देर तक दोनों के बीच अच्छा खेल चला। यह अगर फेऊ की जाति का हो, तो वह फेऊ की आवाज तो निकालेगा ! परन्तु नहीं, फेऊ तो इसकी अपेक्षा काफी बड़ा होता है। तो फिर यह क्या है? वह जो भी हो, जिन्न का भय तो दूर हुआ। उसके मुख में फासफोरस है। अगली रात को फिर पहले के ही समान दप से नीले रंग की अग्निशिखा जल उठी। संन्यासी के लाठी लेकर देखने जाते ही वह छोटा-सा जन्तु बिल में घुस गया। उसके साथ प्रतिदिन कुछ समय खेलना संन्यासी की दिनचर्या का एक अंग ही बन गया।

तीसरे दिन समाचार लेने तथा देखभाल करने तहसीलदार आ पहुँचे। थोड़ी देर बातचीत के बाद उन्होंने संन्यासी से पूछा – "कुछ देखा क्या?" संन्यासी – "हाँ, आप भी देखेंगे? जिन्न को अभी दिखा सकता हूँ।"

तहसीलदार – "अरे बाप रे, मैं बाल-बच्चेदार आदमी हूँ। आपकी दुहाई हो। लगता है कि आप मंत्र-वंत्र जानते हैं। नहीं, नहीं, मुझे नहीं देखना है।" और वह ब्राह्मण भी भय के कारण 'आँ, आँ' करने लगा।

संन्यासी ने उन लोगों को अभय देते हुए बताया कि वह उनका कोई अनिष्ट नहीं होने देगा। वहाँ थोड़ी दूर दिखायेगा।

इसके बाद उसने उस बिल में लाठी को घुसाया, तो तत्काल उसमें से वह सुन्दर जीव निकल आया। इसके बाद उसने उन लोगों को सारी बातें सुनाने के बाद जब बताया कि उसके मुख में फासफोरस रहने के कारण भोजन के समय उसके मुख से उस प्रकार अग्निशिखा के समान लपट निकलती है। उन लोगों ने चैन की साँस ली और बड़े आश्चर्य के साथ पूछने लगे कि यह सब कैसे होता है।

भय तथा अज्ञानता ने इस निर्दोष जीव को 'जिन्न' बना दिया था।

❖ (क्रमशः) ❖

पुरखों की थाती

पदे पदे च रत्नानि, योजने रसकूपिका ।
भाग्यहीना न पश्यन्ति, बहुरत्ना वसुन्धरा ।।

– धरती में कदम-कदम पर रत्न छिपे हैं, हर योजन (८-१० मील) पर मूल्यवान धातु दबे पड़े हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण वसुन्धरा रत्नों से परिपूर्ण है, परन्तु भाग्यहीन लोग उन्हें देख नहीं पाते।

पिता रत्नाकरो यस्य, लक्ष्मीर्यस्य सहोदरा ।
शंखो रोदिति भिक्षार्थी, फलं भाग्यनुसारतः ।।

–जिसके पिता रत्नों की खान समुद्र और बहन साक्षात् लक्ष्मी हैं, ऐसे वंश का होकर भी शंख भिक्षा पाने हेतु रुदन करता रहता है; इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति को भाग्य के अनुसार ही फल मिलता है।

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
जीर्यन्ति हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ।। (महा.)

– इस जगत् में प्राय: ऐसा दीख पड़ता है कि धनवान लोगों में पाचन शक्ति नहीं होती, (दूसरी ओर) निर्धन लोग काठ तक खाकर पचा लेते हैं। ❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१२८. धन से इस संसार में करिये पर-उपकार

भगवान विष्णु का नीलन नाम का एक परम भक्त था। कुशल योद्धा होने के कारण चोल राजा ने उन्हें सेनापति के पद पर नियुक्त किया। उनकी पत्नी कुमुदवती भी उन्हीं के समान धार्मिक प्रवृत्ति की थी। यह दम्पति प्रतिदिन हजार दीन-दुखियों को भोजन कराता था। लोग भोजन करते और आशीर्वाद देकर चले जाते। कुछ दिनों बाद जब उनकी संचित सम्पत्ति समाप्त होने को आई, तो उन्होंने राजा को वार्षिक कर देना बन्द कर दिया। कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने राजा के कान भरे और राजा ने नीलन को कारागार में डाल दिया।

दीन-सेवा में बाधा आई देख नीलन को बड़ा दु:ख हुआ और उन्होंने बंदीगृह में निराहार रहने का व्रत शुरू किया। बात राजा को ज्ञात होने पर उन्होंने अपने निर्णय पर पुनर्विचार किया। नीलन को मुक्त कर दिया। रात को भगवान विष्णु ने नीलन को स्वप्न में दर्शन देकर बताया कि वेगवती नदी के किनारे विपुल धन गड़ा हुआ है। उसे निकालकर वे अपना संकल्प पूरा करें और साथ ही बकाया कर कोष में जमा कर दें। नीलन को निर्दिष्ट स्थान पर धन गड़ा हुआ मिला। उन्होंने कर अदा किया और समग्र भोज पुन: चालू किया। भगवान विष्णु की कृपा से नीलन को धन प्राप्त होने की बात जब राजा तक पहुँची तो उसे इस बात का विश्वास हो गया कि नीलन सच्चे भगवद्भक्त हैं। उन्होंने एक परोपकारी व्यक्ति को बन्दी बनाकर गलत काम किया था। उसे इस बात का भी बोध हुआ कि भगवान भक्त की दुर्दशा को देख व्यथित होते हैं और उसका दु:ख दूर करने को तत्पर हो जाते हैं।

१२९. परोपकाराय सतां विभूतयः

संत फ्रान्सिस तब युवा थे। उनके पिता व्यापारी थे और उनके घर में रुपये-पैसों की कोई कमी नहीं थी। फ्रांसिस एक बार चर्च में प्रार्थना करने गये। वहाँ की टूटी-फूटी हालत देखकर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने तुरन्त अपने कीमती कपड़े और घोड़े बेचकर सारा पैसा पादरी को दे दिया। एक भिखारी ने जब कहा कि वह बहुत दिनों से भूखा है, तो उसे भी कुछ कपड़े और अनाज दे डाला। पिता ने देखा तो वे बड़े नाराज हुए और बोले, "मैंने जो कमाया है, वह इस तरह नष्ट करने के लिये नहीं है। तुम्हें उसे दूसरों को देने का कोई हक नहीं है। यदि तुम इसी तरह घर का धन और चीजें बरबाद करते रहे, तो तुम्हारा घर में न रहना ही अच्छा होगा। फ्रांसिस ने कहा, "हमें जब स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि हजारों लोग भूखे मर रहे हैं, उनके पास खाने को अन्न नहीं, पहनने को कपड़े नहीं, तो हम ऐशो-आराम की जिन्दगी कैसे बिता सकते हैं? अच्छा हुआ जो आपने मुझे इस माया-मोह से मुक्ति दिला दी। आपका धन आपको ही मुबारक हो।" यह कहकर उन्होंने पहने हुये कपड़े उतार दिये और एक चोला पहने सदा के लिये गृहत्याग कर दिया।

धन साध्य नहीं, साधन है। संचित धन उपभोग के लिये नहीं, बल्कि सत्कार्य और लोकहित में उपयोग के लिये है।

१३०. भाव-भगति से शान्ति मिलत है

एक बार साईं बाबा के पास अनन्तराव पाटनकर नामक एक विद्वान् आये। उन्होंने वेद-वेदान्त, पुराण आदि अनेक धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया था। उन्होंने बाबा को प्रणाम करके कहा, "अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद भी मेरे मन को शान्ति नहीं मिली। अत: मैं आपकी शरण में आया हूँ।" इस पर बाबा बोले, "मैं तुम्हें एक कूट प्रश्न देता हूँ – एक बार एक सौदागर ने जब देखा कि उसका घोड़ा मल-विसर्जन करनेवाला है, तो वह तुरन्त झोला लेकर घोड़े के पास पहुँचा और उसने सहेजकर उसमें लीद की नौ ढेरियाँ रख लीं।" इसके बाद बाबा ने पाटनकर से कहा, "जाओ, चिन्तन-मनन करके पता लगाओ कि लीद की नौ ढेरियों को सहेजकर रखने के पीछे सौदागर का क्या प्रयोजन था?"

पाटनकर वहाँ से उठकर एक स्थान पर एकान्त में बैठकर गहरे चिन्तन में डूब गये, परन्तु उनकी समझ में कुछ भी नहीं आया। तब बाबा के एक शिष्य दादा केलकर उनसे पास आये और उन्होंने स्पष्टीकरण किया – "घोड़ा गुरु के अनुग्रह का प्रतीक है, आप सौदागर यानी मुमुक्षु हैं और लीद की नौ ढेरियों से आशय नवधा भक्ति से है। बाबा इस दृष्टान्त के द्वारा यह बताना चाहते हैं कि यदि आप जैसे मुमुक्षु को अनुग्रह प्राप्त करना हो, तो नवधा भक्ति – यानी श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य-भाव, सख्य-भाव और आत्म-निवेदन का सहारा लेना होगा। इससे मन, बुद्धि, हृदय और शरीर की अन्य इन्द्रियाँ जाग्रत होंगी और वे चित्त को पूर्णरूपेण परिशुद्ध कर देंगी। किन्तु इसके लिये बाबा जैसे सक्षम गुरु को समर्पण करना होगा।" पाटनकर को बात जँच गई। वे बाबा के परम भक्त बन गये। बाद में उन्हें आत्मज्ञान के साथ ही आत्म-शान्ति भी प्राप्त हुई। ❑

धर्म का रहस्य

स्वामी सत्यरूपानन्द

प्राचीन समय की बात है, कौशिक नाम के एक तपस्वी ब्राह्मण थे। बचपन से ही वेद आदि का अध्ययन करने लगे थे। युवा अवस्था में ये एक वन में चले गये और वहीं रहकर वेदों का अध्ययन और तप करने लगे।

एक दिन की बात है, ब्राह्मण किसी वृक्ष के नीचे बैठकर वेद का पाठ कर रहे थे। उसी वृक्ष की एक डाल पर एक निरीह बगुली बैठी थी। उसने डाल पर से विष्ठा कर दिया। दुर्भाग्य से उसकी बीट ब्राह्मण पर पड़ी। बीट पड़ते ही ब्राह्मण देव तिलमिला उठे और क्रोध भरी दृष्टि से ऊपर की ओर देखा। उनकी क्रुद्ध दृष्टि पड़ते ही बेचारी बगुली निष्प्राण हो भूमि पर गिर पड़ी और भस्म हो गई।

बगुली की दुर्दशा देखकर ब्राह्मण को बड़ा दुख हुआ और वे पश्चात्ताप भी करने लगे। किन्तु उनके हृदय के एक कोने में अपनी तपस्या से प्राप्त शक्ति का अहंकार भी जाग उठा। फिर भी, बगुली का अनिष्ट हो जाने के कारण ब्राह्मण दुखी थे और पश्चात्ताप कर रहे थे।

इसी उधेड़-बुन में लगे दैनिक कर्मों से निपटकर वे पास के नगर में भिक्षा माँगने गये। एक गृहस्थ के द्वार पर जाकर उन्होंने आवाज लगाई – "माई, भिक्षा दे।" भीतर से एक महिला का स्वर आया, "ठहरो! बाबा, भिक्षा लाती हूँ।' ब्राह्मण ठहर गये। कुछ समय बीता, किन्तु न तो कोई भिक्षा लेकर आया और न ही किसी ने कुछ उत्तर ही दिया। लगभग एक घड़ी और बीत गई, किन्तु न तो भिक्षा आई, न ही उत्तर। अब ब्राह्मण का धैर्य छूट गया। पश्चात्ताप के कारण क्रोध के घोड़े पर लगी संयम की लगाम छूट गई। उनके मन में क्रोध की अग्नि पुन: भभक उठी। ज्ञान के बदले पुन: तप का अहंकार ब्राह्मण के अन्त:करण में जाग उठा। वे सोचने लगे – यह मूर्ख गृहिणी मेरे तप के प्रताप को जानती नहीं है, आज मैं उसे दिखा दूँगा कि ब्राह्मण के तप में कितना बल होता है, उसे मैं बता दूँगा कि ब्राह्मण के अपमान का क्या फल होता है।

ब्राह्मण इस उधेड़-बुन में लगे ही थे कि द्वार खुला और एक महिला ने अत्यन्त ही विनीत स्वर में निवेदन किया, "ब्राह्मण देव, भिक्षा लीजिये।" भिक्षा पात्र आगे बढ़ाने के स्थान पर ब्राह्मण ने कुपित स्वर में कहा, "गृहिणी! तुम्हारा यह कैसा व्यवहार! ब्राह्मण को भिक्षा के लिये रोककर दो घड़ी तक तुमने उसे द्वार पर खड़ा रखा और उसकी सुधि भी न ली।"

उस स्त्री ने अत्यन्त शान्त स्वर में कहा, "क्षमा करें ब्रह्मन्! मैं गृहस्थी के आवश्यक कार्यों में लगी थी, अत: आपको भिक्षा देने में विलम्ब हुआ। मेरे पति बाहर से घर पर आये थे, मैं उन्हीं की सेवा में लगी थी।"

ब्राह्मण ने मानों क्रोध में जलते हुये कहा, "क्या कहा! क्या तुम्हारे पति ब्राह्मण से श्रेष्ठ हैं, जो तुम मेरी उपेक्षा करके उनकी सेवा में लगी रही?"

महिला ने पुन: शान्त किन्तु दृढ़ स्वर में कहा – "क्षमा करें विद्वन्! मेरे लिये पति ही सबसे बड़े देवता है।"

ब्राह्मण ने और भी अधिक क्रोधित होते हुये कहा – "अरी घमंडिनी! पति को श्रेष्ठ मानती है और ब्राह्मण का अपमान करती है। ब्राह्मणों से तो देवराज इन्द्र भी डरते हैं। क्या तू ब्राह्मणों के तेज और प्रताप को जानती नहीं? यदि ब्राह्मण चाहे तो संसार को भस्म कर सकता है।"

उस स्त्री ने कहा, "तपोधन! क्रोध न करो। मैं कोई बगुली नहीं हूँ, जो तुम्हारे क्रोध से भस्म हो जाऊँ। क्रोध करके तुम मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। द्विजश्रेष्ठ! क्रोध तो ऐसा शत्रु है कि वह उसी का नाश करता है, जो उसे आश्रय देता है। मैंने ब्राह्मण का अपमान नहीं किया। शास्त्र कहते हैं – "जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्याय में तत्पर और पवित्र है तथा काम और क्रोध को जिसने जीत लिया है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।" (वनपर्व २०६/३४)

उस पतिपरायण साध्वी स्त्री के मुँह से बगुली के भस्म होने की बात सुनकर ब्राह्मण का सारा क्रोध पानी हो गया। वह अत्यन्त आश्चर्य में डूब गया। उसने विनीत भाव से उस साध्वी स्त्री से क्षमा माँगी और पूछा, "माँ, तुम्हें बगुली के भस्म होने की बात कैसे मालूम हुई? इस घटना को तो संसार में मेरे सिवाय और कोई नहीं जानता।"

उस पतिव्रता ने कहा – "ब्रह्मन्! मैं तो एक साधारण गृहस्थ महिला हूँ। मैंने न तो कोई साधना की है और न ही वेदादि का अध्ययन किया है, मैं निष्ठापूर्वक पति की सेवा करती हूँ, वही एकमात्र मेरा धर्म है, क्योंकि – विप्रवर! पति-सेवा रूपी जो धर्म मुझे प्राप्त हुआ है वही मुझे अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण देवताओं में मेरे पति ही मेरे लिये सबसे बड़े देवता हैं।

"ब्राह्मण देव! नि:संदेह आप त्यागी, तपस्वी और विद्वान् हैं, तो भी अभी आपने धर्म का रहस्य समझा नहीं है। यदि आप धर्म के तत्त्व को जानना चाहते हैं, तो मिथिला पुरी में

धर्मव्याध नाम के एक ज्ञानी व्याध हैं, उनसे जाकर पूछिये।''

उस विदुषी महिला की ज्ञानपूर्ण बातें सुनकर ब्राह्मण को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। किन्तु एक मांस विक्रेता व्याध के पास जाकर धर्म का रहस्य पूछने में ब्राह्मण को बहुत ही संकोच हो रहा था। साथ ही ब्राह्मणत्व का अभिमान भी था। फिर, महिला की दिव्यदृष्टि और ज्ञान के कारण उसकी बातों पर अविश्वास भी नहीं किया जा सकता था। इधर, धर्म का रहस्य जानने की तीव्र इच्छा भी ब्राह्मण के मन में थी।

दुविधा और शंकाओं में डूबते-उतराते ब्राह्मण देवता मिथिलापुरी पहुँचे। प्रात:काल का समय था। नगर में चहल-पहल थी। बाजार पहुँचकर ब्राह्मण ने धर्मव्याध का पता पूछा और व्याध की दुकान के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि व्याध एक छोटी चौकी पर बैठा है, उसके सामने भैंसे सूअर आदि मृत पशुओं का शव पड़ा है, वह उनमें से माँस के लोथड़े काट-काटकर ग्राहकों के दे रहा है। यह बीभत्स दृश्य देखकर ब्राह्मण को बड़ी घृणा हुई। वह एक ओर एकान्त में जाकर खड़े हो गये। थोड़ी देर में व्याध अपनी चौकी से उठकर ब्राह्मण के पास आया और विनय पूर्वक प्रणाम करके उनसे कहा, ''ब्रह्मन्! मैं जानता हूँ आपको उस पतिव्रता महिला ने मेरे पास धर्म का रहस्य पूछने के लिये भेजा है। मैं यह भी जानता हूँ कि मेरा यह कृत्य देखकर आपको घृणा हो रही है। किन्तु आप थोड़ी देर यहाँ रूकें, फिर कृपा पूर्वक मेरे घर चलिये, वहीं धर्म की चर्चा होगी।'

ब्राह्मण के लिये यह दूसरी अद्भुत घटना थी। वह सोच रहे थे, इस व्याध को यह कैसे मालूम हो गया कि मुझे उसी सती न भेजा है। काम समाप्त करके व्याध ने ब्राह्मण से कहा, ''चलिये, विप्रवर, अपनी चरणधूलि से मेरा घर पवित्र कीजिये।'' उसके घर पहुँचकर ब्राह्मण ने देखा कि वहाँ अत्यन्त ही साफ-सुथरा एक छोटा-सा घर है। प्रत्येक वस्तु स्वच्छ और पवित्र है। देव को अर्पित किये हुये चन्दन-धूप आदि की सुगंध चारों ओर फैल रही है। व्याध ने ब्राह्मण को बैठने के लिये एक स्वच्छ आसन दिया। बैठते हुये ब्राह्मण ने कहा, हे व्याध श्रेष्ठ ! मांस बेचने का यह घोर कर्म निश्चय ही तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम इसे त्याग दो। तुम्हारे इस घोर कर्म से मुझे बड़ा ही सन्ताप हो रहा है।''

व्याध ने उत्तर दिया – ब्रह्मन्! यह कार्य मेरे बाप-दादों के समय से होता चला आ रहा है। मेरे कुल के लिये जो उचित है, वही धंधा मैंने अपनाया है। मैं अपने धर्म का ही पालन कर रहा हूँ, अत: आप मुझ पर रुष्ट न हों।

मैं जो कर्म कर रहा हूँ, निस्सदेह वह घोर कर्म है, किन्तु ब्रह्मन्! मैं इस दोष के निवारण के लिये यत्न कर रहा हूँ। विप्रवर ! मैं अपना स्वधर्म समझकर इस कार्य को नहीं छोड़ रहा हूँ। पहले से मेरे पूर्वज ऐसा करते आये हैं, यह समझकर मैं इसी क्रम से जीवन-निर्वाह कर रहा हूँ।

अपने कर्म का परित्याग करनेवाले को यहाँ अधर्म की प्राप्ति होती देखी जाती है। जो अपने कर्म में तत्पर है, वस्तुत: उसी का बर्ताव धर्मपूर्ण है। यह निश्चित सिद्धान्त है।

फिर भी जो व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों के कारण इस समय क्रूर कर्म में लगा है, उसे सदा यह सोचते रहना चाहिये कि मैं किस प्रकार इस घोर कर्म से छुटकारा पा सकता हूँ। निरन्तर इस प्रकार सद्विचार करने से मनुष्य अवश्य ही उस क्रूर कर्म से छुटकारा पा जाता है। अपने कर्म में रत व्यक्ति ही महान् यश का भागी होता है। तपोधन! सामाजिक वर्णाश्रम धर्म के अनुसार मैं अपने कुल-गत धर्म का पालन कर रहा हूँ और व्यक्तिगत वर्णाश्रम धर्म के अनुसार गृहस्थ-धर्म में रहकर मैं अपने कर्तव्यों का पालन कर रहा हूँ।

भगवन्! माता-पिता ही मेरे प्रधान देवता हैं। जो कुछ देवताओं के लिये करना चाहिये, मैं इन्हीं दोनों के लिये करता हूँ। मेरे स्त्री-पुत्र आदि भी इन्हीं की सेवा-शुश्रुषा करते हैं। यही हमारा परम धर्म है। माता-पिता की सेवा ही मेरे लिये परम तप है। इस तपस्या के प्रभाव से ही मुझे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। इसी तप के फलस्वरूप मैंने धर्म के रहस्य को भी समझा है। उस पतिव्रता स्त्री को पतिसेवा रूपी धर्म के पालन करने के कारण वही फल प्राप्त हुआ, जो मुझे माता-पिता की सेवा से प्राप्त हुआ, जो कि योगी को योग से और तपस्वी को तप से प्राप्त होता है।

कौशिक ब्राह्मण की तरह आज हममें भी अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो धर्म के रहस्य को नहीं समझ पाते। इसी कारण किसी पूजा-विशेष या अनुष्ठान आदि के द्वारा ही ईश्वर-प्राप्ति या धर्म लाभ की बात कहते हैं। इसी समस्या का समाधान करने के लिये महाभारत में धर्मव्याध की कथा कही गई है। महाभारत की इस कथा में धर्म के व्यावहारिक स्वरूप की चर्चा की गई है। इसमें यह बताया गया है कि हमारे दैनन्दिन जीवन से, हमारे व्यावसायिक कर्मों से धर्म किस प्रकार सम्बन्धित है, किस प्रकार अपने जीवन के क्रिया कलापों को करते हुये भी हम धर्मलाभ कर सकते हैं। इस कथा में उदाहरणों द्वारा यह बात बताया गया है, कि हमारे कर्म ऊपर से चाहे क्रूर कर्म ही क्यों न दिखें। भले ही हम ऊपर से घर-गृहस्थी के माया-जाल में बंधे दिखाई देते हों, पर यदि हम अपने जीवन के कर्मों को भगवान की पूजा के रूप में करें, उनका फलाफल भगवान् को अर्पित कर दें, तो वे ही हमारे लिये मुक्ति का साधन बन जाते हैं। इसके विपरीत यदि जप-तप आदि सात्त्विक कर्म अथवा वेदाध्ययन आदि ज्ञानात्मक कर्म भी अहंकार से किये गये, तो उनसे धर्म-लाभ नहीं होता। यह कौशिक ब्राह्मण के उदाहरण से स्पष्ट है। ❑❑

खेतड़ी जाने की तैयारी

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

खेतड़ी जाने की योजना

राजा अजीतसिंह स्वामीजी को अपने अतिथि के रूप में इंग्लैंड नहीं ले जा सके थे, परन्तु उनकी विशेष इच्छा थी कि उनके गुरुदेव स्वामी विवेकानन्द के पाश्चात्य देशों में अपने ऐतिहासिक कर्तत्व तथा सफलता के लिये खेतड़ी के नागरिकों की ओर से भी उनका साक्षात् अभिनन्दन किया जाय। राजा अक्तूबर (१८९७) में इंग्लैंड से लौटने वाले थे।

बाद में स्वास्थ्य-सुधार हेतु ६ मई को स्वामीजी दार्जिलिंग से अल्मोड़ा गये। वहाँ पर तथा थोड़े दिनों बाद जब वे पंजाब, कश्मीर, देहरादून तथा राजपुताना की यात्रा पर निकले उस समय, उनके कई गुरुभाइयों और देशी-विदेशी शिष्यों तथा सहयोगियों ने उनका संग किया था। उनमें प्रमुख थे – (१) स्वामी शिवानन्द, (२) योगानन्द, (३) निरंजनानन्द, (४) अद्भुतानन्द (लाटू महाराज), (५) सुबोधानन्द (खोका), (६) सच्चिदानन्द (बड़े दीनू महाराज), (७) गुप्त महाराज (सदानन्द), (८) अच्युतानन्द, (९) ब्र. हरिप्रसन्न (विज्ञानानन्द), (१०) ब्र. कृष्णलाल (धीरानन्द), (११) ब्र. सुधीर (शुद्धानन्द), (१२-१३) कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर, (१४) जे. जे. गुडविन, (१५) जी. जी. नरसिंहाचार्य, (१६) मिस मूलर और (१७-१९) लाला बद्रीशाह के २-३ भाई।

लगभग तीन माह अल्मोड़ा तथा निकटस्थ देउलधार में बिताने के बाद स्वामीजी ने उत्तर-पश्चिमी भारत की यात्रा प्रारम्भ की। वे ९ अगस्त को बरेली और १२ अगस्त को अम्बाला पहुँचे। वहीं उनके अंग्रेज शिष्य कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर शिमला से आकर उनसे मिले। १९ अगस्त को उन्होंने अम्बाला से एक पत्र में लिखा – "अब मैं धर्मशाला के पहाड़ पर जा रहा हूँ। निरंजन, दीनू, कृष्णलाल, लाटू तथा अच्युत अमृतसर में रहेंगे। सदानन्द को अभी तक (मद्रास से) मठ में क्यों नहीं भेजा गया? यदि वह अभी तक वहीं हो, तो ... उसे पंजाब भेज देना। मैं पंजाब के पहाड़ों पर थोड़ा और विश्राम लेने के बाद वहाँ कार्य शुरू करूँगा। **पंजाब तथा राजपुताना ही सच्चे कार्यक्षेत्र हैं।**" अगले दिन वे धर्मशाला गये, फिर वहाँ से लौटकर २-३ दिन अमृतसर में बिताने के बाद ३१ अगस्त को उन्होंने रावलपिण्डी की यात्रा की। वहाँ से मरी जाकर ६ सितम्बर को उन्होंने अपने संगियों के साथ कश्मीर की यात्रा की। तदुपरान्त बारामूला होते हुए १० सितम्बर को वे श्रीनगर पहुँचे।

१३ सितम्बर १८९७ – उन्होंने श्रीनगर से स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखा – "कश्मीर से उतरते ही लाटू, निरंजन, दीनू तथा खोका (सुबोधानन्दजी) को मैं भेज दूँगा; क्योंकि उन लोगों के द्वारा यहाँ पर कोई कार्य होना सम्भव नहीं है और बीस-पचीस दिन के भीतर शुद्धानन्द, सुशील (बाद में प्रकाशानन्दजी) तथा अन्य किसी एक व्यक्ति को भेज देना। उन लोगों को अम्बाला छावनी, मेडिकल हाल, श्यामाचरण मुखोपाध्याय के मकान में भेजना। वहाँ से मैं लाहौर जाऊँगा। ... उसके बाद सिन्ध होते हुए कच्छ, भुज, काठियावाड़ और सुविधा होने पर पूना तक, अन्यथा बड़ौदा होकर राजपुताना और उससे उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेश तथा नेपाल, अनन्तर कलकत्ता जाऊँगा – इस समय यही योजना है, आगे प्रभु की इच्छा।

१५ सितम्बर १८९७ को उन्होंने श्रीनगर से ही ब्र. शुद्धानन्द को लिखा – "अभी नगर में मलेरिया का भीषण प्रकोप है, सदानन्द तथा कृष्णलाल को बुखार आ गया है। ... हम कल यात्रा शुरू करेंगे। ... एक माह बाद पंजाब जा रहा हूँ; आशा है कि तुम तीनों मुझसे अम्बाला में मिलोगे। यदि कोई केन्द्र स्थापित हो सका, तो तुममें से किसी को उसका कार्यभार सौंप दूँगा। निरंजन, कृष्णलाल तथा लाटू को वापस भेज दूँगा। एक बार तेजी से पंजाब तथा सिन्ध होते हुए काठियावाड़ तथा बड़ौदा होकर राजपुताना जाने की इच्छा है, वहाँ से नेपाल और उसके बाद कोलकाता लौटने का विचार है।"

३० सितम्बर १८९७, श्रीनगर से – "दो-एक दिन में पंजाब रवाना हो रहा हूँ। ... यहाँ के लोगों ने अब तक गाड़ी-भाड़ा तक के लिये एक भी पैसा नहीं दिया – ऐसी हालत में मण्डली लेकर भ्रमण करना कितना कठिन है! ... यहाँ गुडविन आदि किसी की भी जरूरत नहीं है, यह तुम स्वयं ही समझ सकते हो। ... खेतड़ी के राजा साहब १०

अक्तूबर को मुम्बई पहुँचेंगे – उन्हें मानपत्र देने में भूल न हो।

उसी दिन – "दो-तीन दिनों के अन्दर ही मैं पंजाब रवाना हो रहा हूँ।... **ब्रह्मचारी हरिप्रसन्न** (विज्ञानानन्द) यदि आ सके, तो बड़ा ही उत्तम होगा। श्री सेवियर जगह लेने को बड़े अधीर हो उठे हैं – शीघ्र ही इसका कोई प्रबन्ध हो जाय, तो अच्छा है। हरिप्रसन्न इंजीनियर है – झटपट इस बारे में कुछ कर भी सकता है और उसे जगह आदि का अच्छा ज्ञान है। ये लोग देहारादून-मसूरी के पास ऐसी जगह लेना चाहते हैं, जहाँ सर्दी ज्यादा न हो और बारहों महीने रहा जा सके। अत: इस पत्र को देखते ही हरिप्रसन्न को 'श्यामापद मुखोपाध्याय का मकान, मेडिकल हॉल, अम्बाला कैंट – के पते पर रवाना कर देना। मैं पंजाब में उतरते ही सेवियर को उसके साथ भेज दूँगा। मैं शीघ्र ही पंजाब होता हुआ काठियावाड़-गुजरात न जाकर, कराची और वहाँ से राजपुताना होकर नेपाल का चक्कर लगाता हुआ शीघ्र ही वापस आ रहा हूँ,... शुद्धानन्द तथा उसके भाई को भी हरिप्रसन्न के साथ भेज देना – इस टोली में से केवल गुप्त एवं अच्युत मेरे साथ रहेंगे।"

१० अक्तूबर १८९७ – मरी से (स्वामी ब्रह्मानन्द को) – "परसों कश्मीर से मरी पहुँच चुका हूँ। सभी बड़े आनन्दपूर्वक थे। केवल कृष्णलाल तथा गुप्त को बीच-बीच में ज्वर हो आया था – किन्तु विशेष नहीं। इस अभिनन्दन-पत्र को खेतड़ी के राजा साहब के लिए भेजना होगा – सुनहरे रंग में छपवाकर। राजा साहब २१-२२ अक्तूबर तक मुम्बई पहुँच जायेंगे। इस समय हम लोगों में से कोई भी मुम्बई में नहीं है। यदि कोई हो, तो उसे एक 'प्रति' भेज देना, ताकि वह जहाज में ही या मुम्बई के किसी स्थान पर, राजा साहब को अभिनन्दन-पत्र प्रदान करे। जो 'प्रति' सबसे उत्तम हो, उसे खेतड़ी भेज देना। किसी सभा में उसे पढ़ लेना। यदि किसी अंश को बदलने की इच्छा हो, तो कोई हानि नहीं है। इसके बाद सभी लोग हस्ताक्षर कर देना; केवल मेरे नाम की जगह खाली छोड़ देना – मैं खेतड़ी पहुँचकर हस्ताक्षर कर दूँगा। इस बारे में कोई भूल न हो। ... राजा विनयकृष्ण की ओर से जो अभिनन्दन-पत्र दिया जायेगा, उसमें भले ही दो दिन की देरी हो – हमारा पहुँच जाना चाहिए।

"अभी-अभी तुम्हारा ५ तारीख का पत्र मिला।... मेरे इस पत्र के पहुँचने से पूर्व ही **हरिप्रसन्न** सम्भवत: अम्बाला पहुँच जायेगा। मैं वहाँ पर उन लोगों को ठीक-ठीक निर्देश भेज दूँगा।... कैप्टेन सेवियर कह रहे हैं कि जगह के लिए वे बड़े अधीर हो उठे हैं। उनकी अभिलाषा है कि मसूरी के पास या किसी अन्य केन्द्रीय स्थान पर शीघ्र एक जगह चाहिए। वे चाहते हैं कि मठ से दो-तीन व्यक्ति आकर स्थान को पसन्द करें। उनके द्वारा पसन्द होते ही, वे मरी से जाकर उसे खरीद लेंगे और भवन बनवाने का कार्य शुरू कर देंगे। इसके लिए जो भी खर्च होगा, उसका प्रबन्ध वे स्वयं करेंगे। तात्पर्य यह कि स्थान ऐसा होना चाहिए, जो न अधिक ठण्डा हो और न ही अधिक गरम। देहरादून गर्मी के दिनों में असह्य है, परन्तु जाड़े में अनुकूल है। मसूरी जाड़े में सम्भवत: सबके लिए उपयुक्त न होगा। उससे आगे अथवा पीछे – अर्थात् ब्रिटिश या गढ़वाल राज्य में उपयुक्त स्थान अवश्य मिल सकेगा। साथ ही स्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ बारहों महीने नहाने-धोने तथा पीने के लिए जल उपलब्ध हो। इसके लिए श्री सेवियर तुम्हें खर्च भेज रहे हैं तथा पत्र भी लिख रहे हैं। उनके साथ इस विषय में सब ठीक-ठाक करना। इस समय मेरी योजना यह है – **निरंजन, लाटू तथा कृष्णलाल को मैं जयपुर भेजना चाहता हूँ**; मेरे साथ केवल **अच्युतानन्द तथा गुप्त (सदानन्द)** रहेंगे। मरी से रावलपिण्डी, वहाँ से जम्मू तथा जम्मू से लाहौर और वहाँ से एकदम कराची। मठ के लिए धन-संग्रह करना मैंने यहीं से शुरू कर दिया है।

१२ अक्तूबर १८९७, मरी से – "अम्बाला से हरिप्रसन्न आदि के पहुँचने का अभी तक कोई समाचार नहीं मिला है।"

स्वामीजी के बाद के पत्रों से लगता है कि कोलकाता से उन्होंने जिन तीन ब्रह्मचारियों (हरिप्रसन्न, शुद्धानन्द तथा प्रकाशानन्द) को बुलवाया था, उनमें से प्रथम दो ही, अक्तूबर के मध्य में अम्बाला पहुँचे थे। शुद्धानन्दजी ने लिखा है – "१८९७ ई. में स्वामीजी के बुलावे पर मैं तथा हरिप्रसन्न महाराज (विज्ञानानन्द) आलमबाजार मठ से रवाना हुए और **इलाहाबाद-अलीगढ़** में २-३ दिन ठहरने के बाद **अम्बाला** पहुँचकर बेहाला के 'श्यामाचरण मुखर्जी के घर' ठहरे और स्वामीजी के साथ कहाँ मिलना है, इसके लिये उनके आदेश की प्रतीक्षा करते रहे। उस समय स्वामीजी कश्मीर से मैदानी अंचल में उतरे थे। स्वामीजी के साथ सेवियर दम्पति तथा अन्य कई गुरुभाई, गुप्त महाराज, गुडविन साहब आदि थे। उस समय सेवियर दम्पति ने पहाड़ में एक आश्रम बनाने का संकल्प लिया था, परन्तु स्थान का चयन नहीं हो सका।"[१]

श्री जगमोहन लाल को लिखित अप्रकाशित पत्र

फिर अक्तूबर के मध्य में ही स्वामीजी ने मुंशी जगमोहन लाल को एक महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा, जिसके केवल कुछ अंश ही स्वामीजी की ग्रन्थमालाओं में स्थान पा सके है – पूरे पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

मरी, ११ अक्तूबर, १८९७

प्रिय जगमोहनलाल,

तुम्हारे और तुम्हारे द्वारा पुन:प्रेषित महाराज के सारे पत्र मुझे यथासमय मिल गये। मैं इसी सप्ताह नीचे उतरकर रावलपिण्डी पहुँचूँगा। फिर वहाँ से जम्मू, वहाँ से कराची,

१. पत्र, उद्बोधन (बँगला मासिक) सितम्बर २००८, पृ. ६२०

फिर काठियावाड़ तथा कच्छ; और उसके बाद राजपुताना। खेतड़ी पहुँचने में लगभग एक माह लग जायेंगे।

कोलकाता का मानपत्र यथासमय तैयार हो जायेगा। सेटलूर ने मुम्बई के मानपत्र का वायदा किया है – तुम उससे मिल लो या लिखो कि वह उसे बना दे; और मद्रास का मानपत्र भी तैयार हो जायेगा। मठ में स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखो कि कोलकाता के मानपत्र की एक प्रति वे तुम्हारे मुम्बई के पते पर भेज दें। आलासिंगा को भी लिख दो कि वह समय पर तैयार रहे।

मुझे यह बताने की जरूरत नहीं कि मैं राजाजी की सफलता पर कितने गर्व का अनुभव कर रहा हूँ। मैंने उन्हें वर्षों पूर्व कह दिया था कि उन्होंने तथा मैंने – हम दोनों ने महान् कार्य सम्पन्न करने हेतु जन्म लिया है; और यह तो उसका प्रारम्भ मात्र है। मेरी कामना है कि उन्हें हर प्रकार का आशीर्वाद प्राप्त हो।

कुछ लोग आपस में मिलकर कुछ विशेष कार्य सम्पन्न करने हेतु कुछ विशेष कालों में जन्म लेते हैं। अजीतसिंह तथा मैं – ऐसी ही दो आत्माएँ हैं, जिन्होंने मानवता के कल्याण के निमित्त एक विराट् कार्य में एक-दूसरे की सहायता करने के लिये जन्म ग्रहण किया है। (इसीलिये) न तो मैं उनसे प्रेम किये बिना रह सका; और न वे ही मुझसे प्रेम किये बिना रह सकते हैं। यह पिछले जन्म का सम्बन्ध है। हम दोनों एक-दूसरे के परिपूरक तथा सम्पूरक हैं। उन्हें अपनी शक्तियों में विश्वास नहीं था, परन्तु अब उन्हें अपने आप में विश्वास लाना होगा। ईश्वर को धन्यवाद, इसी से महान् कार्य होंगे।

और तुम जैसे हो, वैसे ही फौलाद की भाँति निष्ठावान तथा स्वर्ण की भाँति सच्चे बने रहो, सब कुछ के लिये तैयार रहो; और सर्वोपरि उस व्यक्ति – अजीतसिंह में श्रद्धा रखो कि वे महान् कार्य करने के लिये जन्मे हैं। यदि तुम उन्हें कोई भूलें करते भी देखो, तो अपनी श्रद्धा मत खोना। तुम्हें याद रखना चाहिये कि एक राजा कोई त्यागी-तपस्वी नहीं होता। व्यक्ति का पहला कर्तव्य है – नेता में विश्वास। उनका हमारे देश का एक महान् नेता होना निश्चित है। इस बात पर विश्वास रखो। तुम अभी भी नहीं जानते कि उस व्यक्ति की सारी कमियों के बावजूद, उसके भीतर क्या है! प्रभु ने मुझे यह दिखा दिया है और धीरे-धीरे तुम भी इसे देख सकोगे।

आशीर्वाद सहित तुम्हारा,

विवेकानन्द

पुनश्च – मुम्बई रवाना होने के पूर्व किसी को बता जाना कि वह मेरे द्वारा जयपुर भेजे जा रहे तीन संन्यासियों[२] की देखभाल करे। उनके लिये भोजन तथा अच्छे निवास की व्यवस्था कर देना। मेरे आने तक वे लोग वहीं रहेंगे। वे लोग विद्वान् नहीं, (परन्तु) सरल प्राणी हैं। वे मेरे संन्यासी हैं और उनमें से एक मेरे गुरुभाई हैं। यदि उनकी इच्छा हो, तो उन्हें खेतड़ी ले जाओ, जहाँ मैं शीघ्र ही आनेवाला हूँ। इस समय मैं चुपचाप यात्रा कर रहा हूँ। मैं इस वर्ष ज्यादा भाषण भी नहीं दूँगा। इन शोर-शराबों तथा बकवाद में मेरा अब अधिक विश्वास नहीं रह गया है, क्योंकि इनसे कोई वास्तविक कल्याण नहीं होता। मुझे अपनी कोलकाता की संस्था को आरम्भ करने के लिये शान्तिपूर्वक प्रयास करना होगा; और इसके लिये धन एकत्र करने हेतु मैं चुपचाप विभिन्न स्थानों का दौरा करने जा रहा हूँ।

वि.[३]

३ नवम्बर को वे लाहौर गये। वहीं से **११ नवम्बर १८९७** को उन्होंने ब्रह्मानन्दजी के नाम एक पत्र में लिखा – "लाहौर में व्याख्यान ठीक ही हुआ। दो-एक दिन के अन्दर देहरादून रवाना होना है। ... एक समिति स्थापित कर **सदानन्द तथा सुधीर** को यहाँ छोड़ जाने की इच्छा है। इस बार व्याख्यान नहीं देना है – एकदम सीधा राजपुताना जा रहा हूँ। मठ स्थापित किये बिना और कुछ नहीं करना है।"

१५ नवम्बर १८९७ को लाहौर से (श्रीमती इन्दुमती मित्र को) – "कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर, जो कि इंग्लैंड से यहाँ आकर आज **करीब नौ महीने से मेरे साथ घूम रहे हैं,** देहरादून में जमीन खरीदकर एक अनाथालय स्थापित करने कि लिए विशेष उत्सुक हो गये हैं। उनका विशेष आग्रह है कि मैं वहाँ जाकर वह कार्य को शुरू करूँ – इसलिए देहरादून गये बिना मुझे छुटकारा नहीं है। ... देशवासी इससे पूर्व हमारे मठ में जो सहायता प्रदान करते थे, उन लोगों ने वह भी बन्द कर दिया है। उनका ख्याल है कि इंग्लैंड से काफी धन लेकर मैं लौटा हूँ!! इतना ही नहीं, इस वर्ष महोत्सव तक होना नितान्त कठिन है, क्योंकि विलायत हो आने के कारण रासमणि के उत्तराधिकारी मुझे बगीचे में नहीं जाने देंगे!! **अतः राजपुताना आदि स्थलों में मेरे दो-चार मित्र हैं, उनसे मिलकर कलकत्ते में अपना एक स्थान निर्माण करने के लिए आप्राण चेष्टा करना ही मेरा प्रथम कर्तव्य है।** ... राजपुताना तथा काठियावाड़ होकर लौटते समय जाने का विशेष प्रयास करूँगा। ... आज ही देहरादून रवाना हो रहा हूँ – वहाँ करीब सात दिन रहने के बाद राजपुताना, फिर वहाँ से काठियावाड़ जाने का विचार है।"

१५ नवम्बर १८९७ को लाहौर से (स्वामी ब्रह्मानन्द को) – "अत्यन्त धूमधाम के साथ लाहौर का कार्य समाप्त हो चुका है। अब मैं देहरादून रवाना हो रहा हूँ। सिन्ध-यात्रा

२. लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द), दीनू महाराज (बड़े स्वामी सच्चिदानन्द) और ब्र. कृष्णलाल (बाद में स्वामी धीरानन्द)

३. राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द, भाग २, पृ. ४९-५०; Swami Vivekananda – a forgotten Chapter, 1982, p. 104-05, 107-08; विवेकानन्द साहित्य, भाग ६, पृष्ठ ३८१-८२

स्थगित कर दी है। **दीनू, लाटू तथा कृष्णलाल जयपुर पहुँचे या नहीं,** अब तक कोई समाचार नहीं मिला। मठ के खर्च हेतु बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त यहाँ से चन्दा इकट्ठा करके भेजेंगे। उनके पास रसीद की किताबें भेज देना। ... इस पत्र का उत्तर 'द्वारा पोस्टमास्टर, देहरादून' – के पते पर देना। देहरादून से मेरा पत्र मिलने पर अन्य पत्र आदि भेजना।''

अम्बाला तथा लाहौर में स्वामी शुद्धानन्द

उपरोक्त पत्रों के अनुसार स्वामीजी के आदेश पर उनके संगी होने के लिये पंजाब जानेवाले ब्र. शुद्धानन्द ने कुछ पत्रों में उस काल के कछु संस्मरण लिखे हैं। प्रासंगिक अंश निम्नलिखित हैं –''१८९७ ई. के अन्तिम भाग में जब मैं आलमबाजार मठ में था, तभी स्वामीजी के बुलावे पर **मैं तथा स्वामी विज्ञानानन्द (उन दिनों ब्रह्मचारी हरिप्रसन्न)** पश्चिमी भारत गये थे। उन दिनों स्वामीजी विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर रहे थे, अत: किस स्थान पर उनसे मिलना होगा, यह बात हमें ज्ञात न थी। (अत:) स्वामीजी के निर्देशानुसार पहले हम लोग **अम्बाला** जाकर वहीं कुछ दिन ठहरे।

''इसके बाद स्वामीजी के एक गुरुभाई (स्वामी **निरंजनानन्द**) स्वामी **विज्ञानानन्द** को पर्वतीय अंचल में एक भूमि चुनने के लिये **देहरादून** ले गये। मैं कुछ दिन **अम्बाला** में ही रह गया। बाद में सूचना मिलने पर मैं स्वामीजी से मिलने **लाहौर** गया। परन्तु स्वामीजी ठीक कब लाहौर पहुँचेंगे, यह मुझे पता नहीं था। अतएव स्टेशन पर प्रतीक्षा न करके मैं पत्र पर लिखे हुए पते पर चला गया। बाद में पता चला कि मेरे लाहौर स्टेशन पर पहुँचने के करीब एक घण्टे बाद ही स्वामीजी वहाँ पहुँचे थे और लाहौर की सनातनी तथा आर्य-समाजी जनता ने उनके विशेष स्वागत का आयोजन किया है। इधर स्वामीजी ने सोचा था कि मैं उनसे स्टेशन पर ही मिलूँगा। परन्तु मुझे वहाँ न पाकर स्वागत-सत्कार के इतने सब शोरगुल के बीच भी, मेरा समाचार लेने के लिये उन्होंने एक प्री-पेड टेलीग्राम अम्बाला भेजा। वैसे रात को मेरी स्वामीजी के साथ भेंट हो गई और स्वामीजी की अपने प्रति अहैतुकी प्रीति देखकर मैं विशेष रूप से मुग्ध हुआ। लाहौर में स्वामीजी के जो व्याख्यान आदि हुए, उनके विषय में तुमने विस्तारपूर्वक 'भारतीय व्याख्यान' पुस्तक में पढ़ा होगा। अत: उस विषय में विशेष रूप से लिखना निरर्थक होगा।''[४]

उपरोक्त प्रसंग में ही वे अन्यत्र लिखते हैं – ''सम्भवत: स्वामीजी की इच्छानुसार ही हम लोगों के अम्बाला पहुँचने के कुछ दिनों बाद ही निरंजन महाराज वहाँ आये और पहाड़ में आश्रम बनाने के उपयुक्त अच्छी जगह की खोज में इंजीनियर के रूप में हरिप्रसन्न महाराज को वहाँ से देहरादून ले गये। अम्बाला में मैं अकेला रह गया और उन लोगों के चले जाने के करीब ८-१० दिनों बाद स्वामीजी द्वारा मुझे किराया भेजने पर मैं लाहौर जाकर स्वामीजी से मिला। वहाँ स्वामीजी के साथ ८-१० दिन रहा; खूब व्याख्यान आदि हुए।''[५]

''संक्षेप में केवल दो-एक बातें लिखता हूँ। 'ग्रेट इंडियन सर्कस' के मालिक उस समय वहाँ अपना सर्कस लगाये हुए थे। वे बचपन में, स्वामीजी के साथ अखाड़े में कुश्ती लड़ा करते थे। काफी काल बाद स्वामीजी को ऐसी अवस्था में देखकर वे इतने विह्वल हो गये कि यही निश्चित नहीं कर पा रहे थे कि अपने बाल्यबन्धु को किस सम्बोधन से पुकारें। तब स्वामीजी ने उन्हें पूर्व-परिचित के समान सम्बोधित करके उनका संकोच दूर कर दिया।''[६]

लाहौर से शास्त्र-चर्चा आरम्भ

इन यात्राओं के दौरान स्वामीजी ने शास्त्रों के अध्यापन की व्यवस्था भी की थी। शुद्धानन्दजी इसका कारण बताते हैं – ''स्वामीजी ने अपने भारतीय व्याख्यानों में कहीं-कहीं, भारत में बौद्धधर्म की अवनति के कारण दिखाते हुए, बौद्धों को संस्कृत भाषा की चर्चा के प्रति उदासीनता को ही इसके लिये विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराया है। स्वामीजी द्वारा स्थापित बेलूड़ मठ की भी वैसी ही दुर्दशा न हो, इसलिये स्वामीजी मठ की नियमावली में अन्य नियमों के साथ यह लिखना भी नहीं भूले कि 'विद्या के अभाव से ही सम्प्रदाय हीन दशा को प्राप्त होता है, इसलिये सर्वदा विद्या की चर्चा होती रहनी चाहिये।' विदेश से पहली बार लौटकर अनेक कार्यों में रहते हुए भी स्वामीजी ने नव-दीक्षित ब्रह्मचारियों को एक दिन गीता और एक दिन वेदान्त पढ़ाया था। ...

''**१८९७** ई. की शारदीय (दुर्गा-)पूजा के कुछ दिन मैं लाहौर में स्वामीजी के साथ 'ट्रिब्यून' नामक समाचार-पत्र के तत्कालीन सम्पादक नगेन्द्रनाथ गुप्त महोदय के मकान पर रहता था। उसी समय स्वामीजी ने हम लोगों को वेदान्त का श्रीभाष्य पढ़ाना आरम्भ किया था।''[७] **❖ (क्रमश:) ❖**

४. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), कोलकाता, सप्तम सं., पृ. २०

५. पत्र, उदबोधन (बँगला मासिक) सितम्बर २००८, पृ. ६२०

६. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), कोलकाता, सप्तम सं., पृ. २१

७. समन्वय (मासिक), अद्वैताश्रम, फरवरी १९२८, पृ. ८२-८३

माँ की स्मृति

सुहासिनी देवी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

❖ (पिछले अंक का शेषांश) ❖

संध्या के समय माँ के मुख से सुनती – "दुर्गा-दुर्गा, शिव-शिव, लक्ष्मी-नारायण, हरिबोल-हरिबोल, गुरुदेव-गुरुदेव, राधा-श्याम, गंगा-गंगा ब्रह्मवारी, गोविन्द-गोविन्द, जय माँ जगदम्बा।" माँ से जो प्रेम पाया है उसकी कोई तुलना नहीं। एक दिन माँ ने किसी से कहा, "सर्वदा ठाकुर का चिन्तन करना। देखोगे मन अपने-आप ही शान्त हो जायेगा।" माँ की यह बात मैं हमेशा याद रखती हूँ। जीवन में जब कभी भी दु:ख-कष्ट मिला है, माँ की बातें याद करने से तत्काल शान्ति मिली है, शक्ति मिली है।

एक दिन 'माँ के घर' जाकर देखा, माँ के कमरे में अनेक भक्त-महिलायें बैठी हैं। माँ लेटी थीं। मुझे देखकर वे हास्यपूर्ण मुख से बोलीं – "आओ, आओ। आज तुम बेटी को नहीं लायी? सब कुशल से तो हैं न?" मैंने कहा – "हाँ माँ, सभी सकुशल हैं। बेटी को लाने पर वह आपको बड़ा तंग करती है। सबको परेशान कर डालती है। अत: जल्दी घर जाना पड़ता है। इसलिये आज उसे छोड़ आयी हूँ।" माँ ने हँसकर कहा, "कहाँ बेटी, मुझे तो लगता ही नहीं कि वह मुझे तंग करती है। फिर छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियाँ थोड़ी शरारत तो करेंगे ही न! इस राधी को देखती हो न! इसने क्या कम तंग किया है? इसकी माँ तो पागल है। इसका जितना भी हठ आदि था, वह सब मुझसे ही तो करती थी। फिर उसकी जिद भी कैसी! कहावत है न – 'गीली चीनी सुखाकर खाऊँगी, सूखी चीनी भिगाकर खाऊँगी' – राधी की ऐसी ही जिद होती थी। उसकी जिद पूरी न होने पर कितना रोने-चिल्लाने लगती थी! मुझे कितने घूसे आदि मारे हैं कि क्या बताऊँ? मेरे ऊपर राधी का अत्याचार देखकर मेरी माँ बेचैन हो उठती थी। जोर-जोर से कहती – 'अपने पेट का तो एक भी नहीं हुआ; और दूसरों के सब झंझट बटोरकर तू कैसे हँसी-खुशी से रहती है, यह मेरी समझ में नहीं आता।' तब मैं माँ को कितने प्रकार से समझाकर शान्त करती।"

ये बातें कहकर माँ थोड़ी देर तक चुप रहीं। तभी एक भक्त-महिला हँसते हुए बोली – "अच्छा माँ, आज यदि नानी होतीं, तो और भी कितनी अधीर होतीं। आज तो आपकी कितनी ही बच्चे-बच्चियाँ आपको 'माँ-माँ' कहकर इतना परेशान कर रही हैं! हम लोग भी तो आपके पेट से नहीं हुए है, तो क्या हम लोग आपकी सन्तानें नहीं हैं?"

यह सुनते ही माँ उठ बैठीं और तप्त स्वर में बोलीं, "क्या कहा, मेरे पेट से नहीं हुई! तो और किसके पेट से हुई हो? मेरी सन्तान नहीं हो! तो फिर किसकी सन्तान हो? मेरे सिवा और कोई माँ है क्या? सभी स्त्रियों के भीतर मैं ही हूँ; सभी माताओं के भीतर मैं ही हूँ। कोई कहीं से भी आयें, सभी मेरी सन्तानें हैं। इस बात को सत्य समझना। 'माँ' कहकर पुकारते हुए जो लोग भी मेरे पास आते हैं, वे सभी मेरी ही सन्तानें हैं। मेरी माँ ने भी अपने अन्तिम समय में नरेन, राखाल, शरत्, सारदा, योगेन, निरंजन, गिरीश बाबू, निवेदिता – को देखकर यह जान लिया था। उन लोगों का "माँ" सम्बोधन सुनकर मेरी माँ कितनी खुश होती थीं! कहतीं – अहा, मेरे मन की साध माँ-दुर्गा ने इतने दिन बाद पूरी की है। मेरी सारदा की कितनी सन्तानें हैं। वे लोग जब मुझे 'नानी' कहकर पुकारते हैं, तो मेरे प्राण शीतल हो जाते हैं। वे लोग जब हठ करके मुझसे कुछ खाने को माँगते हैं, बातें करते हैं, हँसी-ठिठोली करते हैं, तो क्या बताऊँ कि मुझे कितना आनन्द होता है!' माँ कितनी खुश होकर बच्चों को लड्डू-मुरमुरे देतीं और वे लोग एक साथ मिलकर शोरगुल मचाते हुए खाते। माँ बैठी-बैठी देखतीं और हँसतीं। उस समय मैंने माँ के चेहरे पर क्या ही तृप्ति का भाव देखा है! वैसे उन दिनों इतनी बच्चियाँ नहीं थी, और जयरामबाटी में भी इतनी बच्चियाँ नहीं जाती थीं। जयरामबाटी में जब बच्चियों का जाना शुरू हुआ, तब तक माँ जा चुकी थीं। परन्तु जाते समय मेरा 'माँ' होना देखकर बड़े आनन्दपूर्वक गयीं।"

जिस महिला ने माँ से प्रश्न किया था, उसे शायद थोड़े संकोच का बोध हो रहा था। माँ के चुप होते ही वह माँ के पैर पकड़कर खूब रोने लगी। माँ उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोलीं – "बेटी, अब भी सब कुछ समझ लेने का समय नहीं आया है। इसीलिये तो मेरी सन्तानें नादान की तरह बातें

करती हैं। समय आने पर सब समझ सकोगी।'' वस्तुत: – ''हम लोग भी तो आपके पेट से नहीं हुए हैं'' – यह कथन माँ के लिये असह्य था। वह महिला बार-बार माँ से क्षमा माँग रही थी। लेकिन माँ क्षमा की मूर्ति बनकर हँसते हुए उसे समझा रही थीं। यह दृश्य देखकर वहाँ उपस्थित सभी के नेत्रों में जल भर आया। थोड़ी देर बाद माँ बोलीं – ''देखो बेटी, सभी लोग क्या आसानी से समझ सकते हैं? संसार में मनुष्य को कितना कष्ट है ! यह सब कष्ट देखकर ही तो भगवान बारम्बार पृथ्वी पर उतर आते हैं। लेकिन भगवान को अवतार के रूप में कितने लोग पहचान सकते हैं, कितने लोग समझ सकते हैं? जब वे लोग चले जाते हैं, तभी लोग क्रमश: समझ पाते हैं।'' माँ क्या यह बताना चाह रही थीं कि स्वयं जगदम्बा ही उनके रूप में पृथ्वी पर उतर आयी हैं? कि इस समय सब लोग उन्हें जगदम्बा के रूप में नहीं पहचान पा रहे हैं, लेकिन बाद में समझेंगे? उस दिन अन्य कोई बात नहीं हुई। थोड़ी देर बाद मैंने माँ को प्रणाम किया और प्रसाद लेकर चली आयी।

दो-चार दिन माँ के पास न जाने पर मन बड़ा खराब हो जाता था। एक दिन 'माँ के घर' गयी। देखा – माँ बगल के कमरे के फर्श पर पैर फैलाकर बैठी हैं। एक महिला माँ के चरणों पर हाथ फेर रही है। मुझे देखकर माँ हँसते हुए बोलीं – ''आओ बेटी। (मेरे साथ शान्ति को देखकर) आज तो लगता है मेरी पल्टन आयी है।'' शान्ति के माँ को प्रणाम करने पर माँ उसकी ठुड्डी को हाथ से छूकर चूमते हुए बोलीं – ''बच्चों के भीतर भगवान का आसन बिछा होता है। उनके भीतर भगवान का अधिक प्रकाश होता है, क्योंकि वे सरल और पवित्र होते हैं। इसीलिये तो ठाकुर कहा करते थे कि शिशु की तरह माँ को पुकारने पर माँ को दौड़ते हुए आना होगा।'' थोड़ी देर चुप रहकर माँ मानो अर्न्तमुखी होकर बोलीं – ''अहा ! ठाकुर का ठीक ऐसा ही हुआ था ! उस समय मैं जयरामबाटी में थी – बहुत छोटी भी नहीं थी। सुनती – गंगा के किनारे मुँह घिसते हुए 'माँ-माँ' कहकर रोते हैं, 'दर्शन दे, दर्शन दे' कहते हुए माँ को पुकारते हैं। लोग तो कुछ समझ नहीं पाते थे। इसलिये उन्हें पागल कहकर प्रचारित करते। सुनकर मुझे बड़ा कष्ट होता। लज्जावश किसी से कुछ कह नहीं पाती थी; केवल भानु-बुआ के पास जाकर छलछलाते नेत्रों के साथ बैठते ही वे सब समझ जातीं। वे मुझे सीने से लगाकर स्नेह करतीं और शरीर तथा सिर पर हाथ फेरते हुए समझातीं – 'लोगों की बातों पर ध्यान देकर क्यों अपना मन दुखी करती हो? शिव के समान तेरे पति हैं ! मैंने तो विवाह -कक्ष में उन्हें पहचान लिया था। तू चिन्ता मत कर। एक दिन देखेगी कि यह पागल ही सबका मन जीत लेगा। वे तो माँ के नाम पर पागल हैं। माँ ही सब ठीक कर देंगी।'' ऐसी कितनी ही बातें कहकर मुझे अपने पास सुलातीं। बेटी, उनके जैसा कोई माँ को पुकार सका है या पुकार सकेगा? इसीलिये तो वे कहा करते थे कि 'शिशु के समान सरल भाव से माँ को पुकारने पर जैसे वह सब काम छोड़कर दौड़ी आती है, उसी प्रकार सच्चे हृदय से भगवान को पुकारने पर वे निश्चय ही आयेंगे। तुम्हीं लोग बताओ न – गृहस्थी के कार्यों में चाहे तुम लोग कितनी भी व्यस्त रहो, जब बेटा या बेटी 'माँ' 'माँ' कहकर चिल्लाकर रोने लगता है, तो क्या तुम लोग सारे काम छोड़कर पहले उसे गोद में नहीं उठा लेती? माँ की बात सुनकर हम सभी हँसने लगीं। माँ भी हँसती हुई बोलीं – ''क्यों, मैंने ठीक नहीं कहा?'' हम लोगों ने हँसते हुए कहा – ''आपने ठीक कहा है, माँ।''

मेरे मुँह से सहसा निकल पड़ा – ''अच्छा माँ, तुम जो ...।'' इतना कहकर मैं अपनी दाँतों के बीच जीभ को दबाकर चुप हो गयी। माँ बोलीं – ''क्या हुआ, जीभ क्यों काटा?'' मैं लज्जित होकर बोली – ''माँ, मैंने आपको 'तुम' कह दिया, क्षमा कीजियेगा।'' माँ जोरों से हँसकर बोलीं – ''जरा इस पगली लड़की की करतूत तो देखो ! उससे क्या हुआ? लोग अपनी माँ को 'तुम' नहीं, तो क्या 'आप' कहते हैं? मैं तो तुम सभी की माँ हूँ, सचमुच की माँ हूँ। मुझे 'तुम' ही तो कहोगी।'' माँ की स्नेह-भरी बातें और माँ ने जो हम लोगों को 'सचमुच की माँ हूँ' – कहा, यह बात उनके स्वयं के मुँह से सुनकर मेरा सारा शरीर रोमांचित हो उठा और नेत्रों से आँसू गिरने लगे। मैंने माँ के पैरों में अपना सिर रख दिया और दोनों चरण पकड़कर खूब रोने लगी। माँ को मेरे सिर पर हाथ रखकर हँसते हुए कहने सुना – ''देखो, मेरी बेटी रो-रोकर आकुल है। बोल, क्या पूछ रही थी?'' इसी बीच मैं उठ बैठी थी। मेरे कुछ पूछने के पूर्व ही गोलाप -माँ ने आकर माँ को ठाकुर के शाम का भोग देने की बात कहा। माँ हम लोगों से वहीं बैठने को कहकर ठाकुर के पूजाघर (जो उनका स्वयं का भी कमरा था) में चली गयीं।

उस दिन सुधीरा दीदी भी वहाँ उपस्थित थीं। माँ के उठते ही वे मुझसे कहने लगीं – ''तुमने आज यह क्या किया – माँ जगत् में सबकी माँ हैं और सबकी सचमुच की माँ हैं – यह बात आज हम सभी को माँ के अपने मुँह से जानने और सुनने का सौभाग्य करा दिया ! माँ तो सर्वदा अपने को गुप्त रखती हैं, पकड़ में नहीं आना चाहतीं।'' मैं बोली, ''सही बात है सुधीरा दीदी, हम लोग माँ को भला कितना-सा जान पाती हैं ! फिर भी आप और सरला दीदी माँ के काफी निकट रहती हैं। मैं तो संसारी जीव हूँ – कभी दो-एक दिन के बाद, तो कभी सात दिन बाद अल्प समय के लिये माँ का संग कर पाती हूँ।'' हम लोगों की ऐसी ही बातें चल रही थीं। थोड़ी देर बाद माँ प्रसन्न-वदन लौटीं और बोली, ''क्यों

जी तुम लोग के बीच क्या बातचीत हो रही है? सुधीरा दीदी ने कहा, "सुहास आपके पास अधिक नहीं आ पाती, इसके लिये दु:ख व्यक्त कर रही थी।" माँ बोली, "दु:ख क्यों बेटी, गृहस्थी भी तो ठाकुर ने ही दी है। वही तो तुम लोगों का कर्तव्य है। कर्तव्य को पूरा करके ही तो आओगी। ये जो सुधीरा, सुमति, सरला है; ये भी तो अपना-अपना काम पूरा करके ही आती हैं। इच्छा होने मात्र से ही तो नहीं होता बेटी! इच्छा की पूर्ति मनुष्य के हाथ में नहीं है। सब उन्हीं की इच्छा से होता है।" संध्या होते देख वापस लौटना पड़ा। सुधीरा दीदी आदि बैठी रहीं। मेरी लौटने की जरा भी इच्छा नहीं हो रही थी। माँ को छोड़कर आने की कभी इच्छा नहीं होती।

चार-पाँच दिन बाद मैं फिर माँ के पास गयी। वह छुट्टी का दिन था। अकेली ही गयी थी। माँ के कमरे में प्रविष्ट हुई, तो देखा बहुत-से लोग आये हैं। माँ को प्रणाम करने पर माँ ने प्रसन्न मुख से मेरे सिर पर हाथ रखा, फिर ठुड्डी का स्पर्श करके हाथ को चूमकर बोलीं, "बैठो बेटी।" सरला दीदी, सुधीरा दीदी भी वहीं थीं। उन लोगों ने भी हँसते हुए मुझे अपने पास बैठने को कहा। सुधीरा दीदी बोली, "तुम उस दिन माँ से कोई बात कहते-कहते सहसा रुक गयी थी, वह क्या बात थी?" मैंने सँकुचाते हुये कहा, "कोई विशेष बात नहीं थी। माँ छोटे बच्चों की बात कह रही थीं – उनकी सरलता तथा उनके पवित्र स्वभाव की बातें कह रही थीं। इसी प्रसंग में माँ से मेरी यह पूछने की इच्छा थी कि क्या सभी बच्चों के मन में जानने का आग्रह होता है? किसी-किसी बच्चे को देखती हूँ कि वह बड़ा ही बुद्धू जैसा लगता है। उनके मन में किस प्रकार स्वाभाविक कुतूहल जगाया जाय? वे भी कैसे सामान्य बच्चों की तरह हो सकेंगे?"

माँ ने हँसकर कहा, "यह क्या जी? तुम लोग माँ हो और तुम्हीं को बताना पड़ेगा कि बच्चों के मन की बातें कैसे समझोगी? सुनो – उनके साथ बड़े सहज सरल भाव से मिलना-जुलना होगा; बातें करनी होगी। उन्हें उनकी आयु के बच्चों के साथ खेलने की छूट देनी होगी। उन्हें ज्यादा डाँटना-फटकारना नहीं होगा, मारना नहीं होगा। उन्हें ज्यादा डाँटना-फटकारना या मारना उचित नहीं। उन्हें ज्यादा डाँटने या मारने-पीटने से वे भय के कारण दब्बू बन जायेंगे, दूर चले जायेंगे। स्नेहपूर्वक समझाने से वे आसानी से समझेंगे। डरा-धमकाकर उन्हें प्रश्न करने से रोकना नहीं चाहिये। डराने-धमकाने से वे लोग कुछ भी पूछने से डरेंगे। उनके मन के स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ेगी।"

एक दिन एक भक्त महिला ने माँ से पूछा, "अच्छा माँ, ठाकुर तो बारम्बार कामिनी-कंचन का त्याग करने को कहा करते थे, परन्तु जो लोग गृहस्थी में हैं, वे यदि पत्नी-पुत्र तथा परिवार को छोड़कर चले जायँ, तो उन लोगों की क्या दशा होगी? और हम लोग घर-गृहस्थी में हैं, तो क्या हमें ठाकुर का प्रेम नहीं मिलेगा? उन्होंने ही तो सब कुछ बनाया है – गृही तथा साधु, स्त्री तथा पुरुष! तो फिर क्या हम लोगों को उनकी कृपा नहीं प्राप्त होगी?"

माँ मानो थोड़ी उत्तेजित होती हुई बोली, "यह कैसी बात, बेटी? ऐसी बात तुम मन में क्यों लाती हो कि गृही होने से तुम्हें उनका स्नेह-प्रेम और कृपा नहीं मिलेगी? बल्कि उल्टे वे अपने त्यागी शिष्यों से भी अधिक वे अपने गृही भक्तों के लिये चिन्ता करते थे। कहते – 'वे लोग बहुत दुखी है, संसार में बड़ा कष्ट भोगते हैं। उनमें से बहुत-से निकल आने के लिये हाथ-पाँव मारते हैं, लेकिन निकल नहीं पाते। कुछ लोग उन्हें पाने के लिये मन-ही-मन बड़े व्याकुल होते हैं, मगर संसार-जाल में जकड़ जाने के कारण किसी भी प्रकार लाचार हो जाते हैं।' जानती हो बेटी, ठाकुर कहते थे, 'गृहस्थों को बड़ा कष्ट है, इसीलिये माँ से कहता हूँ – माँ, उनके मन में भाव-भक्ति जगाओ, ताकि उन्हें शान्ति मिले।' 'वचनाममृत' में ठाकुर की यह बात पढ़ी है न – 'एक हाथ से भगवान को पकड़ो और दूसरे हाथ से संसार के काम करो।' साधु लोग तो भगवान के लिये सब छोड़-छाड़कर संसार के बाहर निकल आते हैं। उनके पीछे कोई खिंचाव नहीं होता। परन्तु गृहस्थों को कितने मोह-माया और कर्तव्यों के बीच रहना पड़ता है। उनके पीठ पर मानो बीस मन का बोझ लदा हुआ है। इसीलिये ठाकुर गृहस्थों के लिये अधिक चिन्ता करते थे। उनके मन में स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं था। जैसे पुरुष-भक्तों के लिये सोचते थे, वैसे ही स्त्री-भक्तों के लिये भी सोचते थे। सर्वदा स्मरण रखना बेटी, वे तुम लोगों को बहुत प्यार करते हैं।"

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

क्रोध पर विजय (७)

स्वामी बुधानन्द

(हमें अपने जीवन में प्राय: ही अपने तथा दूसरों के क्रोध का सामना करना पड़ता है, परन्तु हम नहीं जानते कि क्रोध क्या है, इसकी उत्पत्ति कैसे और कहाँ होती है, और उस पर कैसे नियंत्रण किया जाय। इसी विषय को लेकर रामकृष्ण संघ के एक विद्वान् संन्यासी स्वामी बुधानन्द जी ने १९८२ ई. में रामकृष्ण मिशन के दिल्ली केन्द्र में अंग्रेजी में एक व्याख्यान-माला प्रस्तुत की थी। बाद में ये व्याख्यान मद्रास मठ के आंग्ल मासिक 'वेदान्त-केसरी' में धारावाहिक रूप से और अन्तत: एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए। आधुनिक जीवन में उनकी उपादेयता को देखते हुए 'विवेक-ज्योति' में हम उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

कहानी – 'छुटकारा पा लो'

विलियम जेम्स ने अपने ग्रन्थ The Varieties of Religious Experience में निम्नलिखित कहानी का वर्णन किया है –

श्री होरेस फ्लेचर अपनी छोटी-सी पुस्तक Menti-culture में बताते हैं कि जब वे एक मित्र के साथ 'बौद्ध साधना के अभ्यास से जापानी लोगों द्वारा प्राप्त आत्मसंयम' के विषय पर चर्चा कर रहे थे, तो उसने कहा –

"सबसे पहले तुम्हें क्रोध तथा चिन्ता से छुटकारा पा लेना होगा।" मैंने पूछा – "लेकिन, क्या यह सम्भव है?" उसने कहा – "हाँ, जब यह जापानियों के लिये सम्भव है, तो हम लोगों के लिये भी अवश्य ही सम्भव होगा।"

"वापस लौटते समय मैं – 'छुटकारा पा लो, छुटकारा पा लो' – इन शब्दों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सोच सका; और यही भाव निद्रावस्था में भी मुझ पर अधिकार जमाये रहा होगा, क्योंकि सुबह जब मेरी चेतना लौटी तो वही विचार वापस लौट आया और इसके साथ ही एक आविष्कार भी प्रकट हुआ, जो निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त हुआ, 'यदि क्रोध तथा चिन्ता से छुटकारा पाना सम्भव हो, तो उन्हें रखने की आवश्यकता ही क्या है?' मैंने इस तर्क की शक्ति को महसूस किया और तत्काल युक्ति को स्वीकार कर लिया। मानो बच्चे ने खोज कर लिया था कि वह चल सकता है। अब वह घिसटकर चलना पसन्द नहीं करेगा। जिस क्षण मुझे बोध हुआ कि चिन्ता तथा क्रोध के ये घातक दाग मिटाये जा सकते हैं, तो मैं तत्काल उनसे मुक्त हो गया। उनकी दुर्बलता की खोज हो जाने के कारण उन्हें निकाल कर बाहर कर दिया गया। तब से मेरा जीवन पूरी तौर से एक अलग ही प्रकार का हो गया।

"यद्यपि उसी क्षण से हताशाजनक उत्तेजनाओं से मुक्त होने की सम्भावना तथा उपयोगिता मेरे लिये एक वास्तविकता बन गयी थी, तथापि अपनी नयी स्थिति में पूर्ण रूप से सुरक्षित महसूस करने में मुझे और भी कुछ महीने लग गये; परन्तु चिन्ता तथा क्रोध के सामान्य अवसर बारम्बार आते रहे हैं और मैं उन्हें थोड़ी मात्रा में भी महसूस करने में असमर्थ हो गया हूँ। अब मैंने उनसे आतंकित होना या उनके प्रति सावधान रहना बन्द कर दिया है; और मैं अपने परिवर्धित मानसिक शक्ति तथा ऊर्जा, सभी प्रकार की परिस्थितियों से निपटने की अपनी क्षमता और हर वस्तु के प्रति प्रेम तथा प्रशंसा का भाव रखने के अपने स्वभाव पर विस्मित हूँ।"

"मैं अपनी इस नवीन मनोदशा को सिद्ध करनेवाले अनेक अनुभवों का वर्णन कर सकता हूँ, परन्तु यहाँ एक का उल्लेख ही यथेष्ट होगा। मैंने बड़ी रुचि तथा आनन्दपूर्ण अपेक्षा के साथ एक ट्रेन से जाने की योजना बनायी थी, पर मेरा सामान न आने के कारण वह मुझे छोड़कर चली गयी और मैं जरा-सी भी झल्लाहट या अधीरता के बिना उसे जाते हुए देखता रहा। ट्रेन जब आँखों से ओझल हो रही थी, तभी होटल का कुली दौड़ते तथा हाँफते हुए वहाँ आ पहुँचा। उसने जब आँखें उठाकर मेरी ओर देखा तो लग रहा था कि वह मेरी फटकार की आशंका से भयभीत है और बताने लगा कि वह एक भीड़-भरी सड़क पर फँस गया था और उससे निकल पाने में असफल रहा था। उसका बोलना समाप्त हो जाने पर मैं बोला – "चिन्ता की कोई बात नहीं। तुम नहीं पहुँच सके, इसलिये हम लोग कल फिर प्रयास करेंगे। यह लो अपनी मजदूरी, मुझे खेद है कि इसे कमाने में तुम्हें इतनी कठिनाई झेलनी पड़ी।" उसके चेहरे पर जो आश्चर्य का भाव आया, वह इतने आनन्द का द्योतक था कि मेरे जाने में विलम्ब का मुझे वहीं पुरस्कार मिल गया। अगले दिन उसने अपनी सेवा के लिये एक पैसा भी स्वीकार नहीं किया और हम दोनों जीवन भर के लिये मित्रता के बन्धन में बँध गये।

"व्यक्तिगत रूप से जहाँ तक मेरा सवाल है, इस समय मैं इस बात को लेकर परेशान नहीं हूँ कि मेरी इस मुक्त अवस्था का क्या परिणाम हो सकता है। मैंने देखा है कि अब मैं जो कुछ भी खाता हूँ, मेरे पेट द्वारा उसे आत्मसात् करने की प्रक्रिया में काफी सुधार आया है और मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि अब वह नाराजगी झल्लाहट के स्थान पर गीत की ध्वनि के साथ बेहतर ढंग से काम करता है। और मैं एक भावी अस्तित्व या भावी स्वर्ग के विचार की

उधेड़-बुन में अपना मूल्यवान समय जरा भी बरबाद नहीं कर रहा हूँ। मैं अपने भीतर जिस स्वर्ग को पाता हूँ, वह उतना ही आकर्षक है, जिसका कि वादा किया गया है या जिसकी मैं कल्पना कर सकता हूँ; और यह विकास मुझे जहाँ भी ले जाय, मैं उसी पर छोड़ देने को प्रस्तुत हूँ, जब तक कि क्रोध तथा उसके परिणाम इसे गुमराह नहीं करते।''

यद्यपि यह लेखक कोई धार्मिक सन्त नहीं था, तो भी उसकी कथा में बड़ा दम है। और यह हमारे विषय की दृष्टि से प्रासंगिक भी है। यह केवल संयोग ही नहीं था कि फ्लेचर को यह प्रामाणिक मंत्र सुनने को मिला – 'छुटकारा पा लो, छुटकारा पा लो'। यदि धर्म की दृष्टि से इसकी व्याख्या की जाय, तो हम इसका यह अर्थ लगा सकते हैं – ''अपने अहंकार को दूर करो और तुम्हें क्रोध तथा चिन्ता – दोनों से छुटकारा मिल जायेगा।''

एक समन्वित प्रणाली

यद्यपि परम्परागत धर्म में कुछ अपने लाभ हैं, परन्तु आधुनिक समाज के वास्तविक जीवन की परिस्थितियों का सामना करने हेतु सार्थक तथा युक्तिपूर्ण जीवन-यापन की पद्धतियों की खोज करने के लिये हमें प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराओं पर एक नयी दृष्टि डालने की आवश्यकता है। अनेक समाज-शास्त्री संघर्षों के समाधान तथा संकट के व्यवस्थापन के लिये स्थानीय परम्पराओं में शोध कर रहे हैं। आधुनिक जगत् के लोगों को क्रोध एवं संघर्ष की समस्या के सन्दर्भ में धार्मिक शिक्षा तथा आध्यात्मिक प्रेरणा की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आज हमें अपने पूर्वजों की अपेक्षा काफी अधिक आत्म-नियंत्रण की आवश्यकता है।

सन्तों के जीवन तथा गीता (२/५६) की शिक्षाओं से हमें ज्ञात होता है कि क्रोध पर पूर्णतया विजय पाया जा सकता है – ''जिसका मन दुःख में उद्विग्न नहीं होता, सुख की जिसे कोई कामना नहीं है और जो आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त है, उसी को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।''

यह अनुभूत अवस्था का वास्तविक वर्णन है और इससे कोई शंका नहीं रह जानी चाहिये कि क्रोध पर विजय पाना सम्भव है।

विभिन्न धर्मों के अनुयायीगण अपने ही धर्मों से क्रोध पर विजय पाने के उपाय सीख सकते हैं, तथापि कुछ ऐसे साधक भी हैं, जो किसी भी प्रामाणिक स्रोत से आनेवाली अन्तर्दृष्टि तथा प्रेरणा की सहायता से अपनी आध्यात्मिकता को सबल बनाना चाहते हैं। ऐसे लोगों को इसके लिये एक समन्वित प्रणाली अपनाना, कहीं अधिक उपयोगी प्रतीत होगा। ज्ञान के चिरन्तन स्रोत – जगद्गुरु श्रीकृष्ण, पतंजलि, बुद्ध, ईसा और ईसाई सन्तों से प्राप्त, क्रोध पर विजय सम्बन्धी जानकारियों, अन्तर्दृष्टियों, शिक्षाओं तथा उपदेशों के एक सामग्रिक संक्षेपण से हमें वह दिशा प्राप्त हो सकेगी, जिधर यह समन्वित प्रणाली हमें ले जा सकेगी।

निर्दिष्ट साधनाएँ

विभिन्न उपायों का सफलतापूर्वक अभ्यास करने के लिये, सर्वप्रथम हमें सबके प्रति सद्भाव, मित्रता, शान्ति तथा समन्वय से युक्त एक आन्तरिक स्वभाव विकसित करने की आवश्यकता है। यह स्वभाव हमारी जाग्रत तथा निद्रा की अवस्था में भी हमारे चिन्तन तथा क्रिया की एक स्वाभाविक आदत में परिणत हो जाय। कुछ संस्कृत प्रार्थनाओं तथा उनके साथ ही बुद्ध द्वारा सिखायी गयी एक मंगल-कामना की प्रतिदिन आवृत्ति करने से सार्वभौमिक सद्भाव तथा मित्रता के इस भाव का विकास किया जा सकता है

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः
सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ।।

अन्तरिक्ष में शान्ति हो, आकाश में शान्ति हो, पृथिवी पर शान्ति हो, जल में शान्ति हो, पौधों में शान्ति हो, वृक्षों पर शान्ति हो, देवताओं में शान्ति हो, ब्रह्म में शान्ति हो, सभी प्राणियों में शान्ति हो, वही सच्ची शान्ति मुझमें हो।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वे भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ।।

– सभी लोग संकटों से मुक्त हों। सभी लोग अच्छाई ही देखें। सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो। सब लोग सर्वत्र आनन्द मनायें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत् ।।

– सभी लोग सुखी हों। सभी रोगों से मुक्त हों। सभी लोग यह समझें कि अच्छा क्या है। कोई भी दुःख का भागी न हो।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत् बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ।।

– दुष्ट लोग सज्जन हो जायँ; सज्जन लोगों को शान्ति प्राप्त हो; शान्त लोग बन्धनों से मुक्त हो जायँ और मुक्त लोग अन्य लोगों की मुक्ति में सहायता करें।

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गो-ब्राह्मणेभ्यो शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ।।

– प्रजा का मंगल हो। शासकगण न्याय के मार्ग पर चलते हुए पृथ्वी का पालन करें। सर्वदा उत्कृष्ट पशुओं तथा मनुष्यों का कल्याण हो। सभी लोग सम्पन्न तथा सुखी हों।

यह सार्वभौमिक सद्भाव न केवल हमारे मन-प्राण में ओतप्रोत हो जाय, अपितु इसे एक सशक्त भावधारा के रूप में सभी दिशाओं में प्रवाहित करते हुए इससे सभी जीवों के स्वरूप को आवृत्त कर देना चाहिये। मेत्तसुत्त (मैत्री सुक्त) में तथागत बुद्ध एक ऐसे जीवन-मार्ग की शिक्षा देते हैं; जिसमें सर्वत्र, सबके प्रति शान्ति, समन्वय, सद्भाव तथा सच्चाई से युक्त स्वभाव के विकास पर बल दिया गया है –

"सभी प्राणी सुखी तथा सुरक्षित हों और सुखपूर्वक रहें। चर या अचर, दुर्बल या सबल, लम्बे या ठिगने, मध्यम या छोटे, दिखनेवाले या न दिखनेवाले, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या जन्म लेने के इच्छुक – सभी प्राणी सुखी हों।

"कोई भी किसी अन्य को धोखा न दे। कोई भी कहीं किसी का अपमान न करे। क्रोध या विरोध के कारण कोई किसी को हानि पहुँचाने की इच्छा न करे।

"जैसे माता अपने जीवन को जोखिम में डालकर भी अपनी सन्तान की रखवाली करती है, वैसे ही हर व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति असीम प्रेम का भाव रखे।

"ऊपर, नीचे तथा सामने स्थित पूरे संसार के प्रति, बिना किसी घृणा तथा शत्रुता के, असीम मित्रता का भाव रखे।

"खड़े रहते, चलते, बैठते तथा लेटते समय भी जब तक जाग्रत रहे, तब तक इसी प्रकार की मानसिकता बनाये रहे; इसी को संसार में सर्वश्रेष्ठ जीवन-चर्या कहते हैं।"

जब हम सम्पूर्ण विश्व में सद्भाव, शान्ति तथा समन्वय फैलाने के लिये, आन्तरिक शान्ति तथा सक्रिय स्वभाव का परिवेश विकसित करते हैं, तो क्रोध पर विजय पाने के हमारे आन्तरिक संकल्प को यथेष्ट तथा निरन्तर पोषण मिलता रहता है।

यम और नियम का अभ्यास

परन्तु अनुभव से हमें ज्ञात होगा कि ऊपर वर्णित आन्तरिक परिवेश के विकास के लिये हमारे सजग प्रयास के बावजूद, हमारे अवचेतन मन से उत्थित होनेवाली कुछ अदम्य शक्तियाँ हमारे अक्रोध की आदत के विकास के प्रयास को बाधित कर रही हैं। यदि हम अपने अन्दर निहित उन शक्तियों को प्रशिक्षित तथा नियंत्रित करके चेतन मन में संरक्षित अपने उत्तम लक्ष्य के साथ सहयोग करने में नियोजित न कर सके, तो काफी सम्भावना है कि क्रोध पर विजय पाने के हमारे प्रयास निरर्थक सिद्ध हों।

यम तथा नियम – इन दो साधनाओं के अभ्यास के द्वारा यह कठिन कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। यम का अर्थ है – अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य तथा सकाम उपहार को अस्वीकार करने का अभ्यास। नियम का अर्थ है – आन्तरिक तथा बाह्य पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की उपासना का अभ्यास।

यदि दृढ़ समर्पण तथा निष्ठा के साथ हम इन साधनाओं का अभ्यास करें, तो ये अदृश्य रूप से मनो-दैहिक प्रणाली का शुद्धीकरण कर देती हैं। इसके फलस्वरूप, हमारे बाह्य आचरण में व्यक्त होनेवाली कई विचित्र तथा अवांछित अभिव्यक्तियों के रूप में दिखनेवाली हमारी आन्तरिक स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति अपने आप ही क्षीण तथा दुर्बल हो जायेगी और भीतर तथा बाहर भले कार्यों के लिये बहुत-सी शुद्ध ऊर्जा प्रकट कर देगी।

गायत्री की परम उपयोगिता

इस आध्यात्मिक ऊर्जा को एक ऐसी दिशा में प्रवाहित करने की आवश्यकता है, जो रचनात्मक तथा हितकारक हो और उस लक्ष्य की ओर इंगित करे, जिधर साधक को अग्रसर होना है। ऋग्वेद के उस सुप्रसिद्ध गायत्री मंत्र के द्वारा हम बुद्धि के प्रबोधन के लिये प्रार्थना करते हैं, ताकि हम अपने इच्छित लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकें। मूल रूप में गायत्री प्रार्थना इस प्रकार है – **ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमही धियो यो नः प्रचोदयात्** – "हम तेजोमय जीवन-प्रदाता सविता के पवित्र तेज का ध्यान करते हैं, वे हमारी बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करें।"

केवल दिव्य प्रेरणा से युक्त बुद्धि ही क्रोध पर विजय पाने की आवश्यकता की वास्तविक धारणा कर सकती है। यह उस पर विजय पाने के उपायों को समझ सकती है और हमारे प्रयासों को निष्फल होने से बचाते हुए लक्ष्य-प्राप्ति हेतु संघर्ष करने के लिये ऊर्जा प्रदान करती है। अनपेक्षित रूप से आन्तरिक ऊर्जा के ह्रास के कारण हममें से अनेक लोगों को अच्छी परियोजनाएँ भी अपूर्ण ही छोड़ देनी पड़ती हैं।

चाहिये – सत्त्व का प्राबल्य

उपरोक्त साधनाओं का अभ्यास करने के बाद, क्रोध पर विजय-प्राप्ति के सर्वाधिक प्रभावी साधन के रूप में सत्त्वगुण का प्राबल्य लाने का प्रयास सम्भव हो सकेगा। आसक्ति तथा द्वेष क्रोध के जड़ हैं और रजस् और तमस् के प्राबल्य के कारण इन दोनों से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। जब तक हमारे स्वभाव में सत्त्वगुण दुर्बल है, तब तक हम क्रोध पर कदापि विजय नहीं पा सकते। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "सत्त्वगुण का आश्रय मिलने पर क्रोध... से रक्षा होती है।"*

❖ (क्रमशः) ❖

* श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, खण्ड १, पृ. २७०
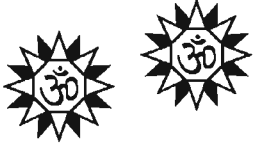
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१३)
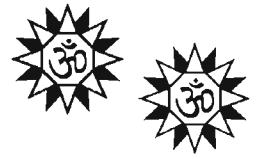
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ।।४४।।

– शरीर के बाहर अर्थात् देहातीत मन की धारणा का नाम 'महाविदेह' है। उसके ऊपर संयम करने से प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है।

व्याख्या – योगी किसी बाह्य वस्तु पर मन को इतना एकाग्र कर सकते हैं कि उनके मन का आश्रय सूक्ष्म देह, जो कि स्थूल शरीर के भीतर है, उसे वे भूल जाते हैं। जैसे कोई व्यक्ति कलकत्ता में बैठकर काशी का ध्यान करने लगे, तो उसे यह बोध होगा कि वह काशी में ही है। इस अवस्था को 'महाविदेह' कहते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर योगी के चित्त से रजोगुण और तमोगुण पूर्णतः दूर हो जाते हैं और उसकी ज्ञानशक्ति सब प्रकार से प्रकाशित होती है।

स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ।।४५।।

– स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व[३] – भूतों के इन पाँच प्रकार के रूपों पर संयम करने से भूतजय होता है। अर्थात् महाभूत गण अपने वश में होते हैं।

ततोऽणिमादि-प्रादुर्भावः काय-सम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।।४६।।

– उससे (भूतजय से) अणिमा आदि सिद्धियों का अविर्भाव होता है, 'कायसम्पत्' की प्राप्ति होती है तथा शारीरिक धर्म-गुण सदा सभी परिस्थितियों में विद्यमान रहते हैं।

रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ।।४७ ।।

– रूप (सौन्दर्य), लावण्य (सुन्दर अंग-कान्ति), बल और वज्र की तरह दृढ़ता - इन्हें 'कायसम्पत्' कहते हैं।

व्याख्या – हमारे इस देह के उपादान पंचभूतों के स्वभाव और क्रिया में मन को एकाग्र करके पूर्णतः संयम कर सकने पर पंचभूतों के ऊपर पूर्ण अधिकार हो जाता है। उससे अणिमादि अष्ट-सिद्धियों[४] की प्राप्ति होती है। शरीर में रूप लावण्य का असाधारण, विशेष प्रकाश होता है तथा शरीर वज्र की तरह दृढ़ होता है। हमलोगों का शरीर साधारणतः प्राकृतिक नियमानुसार क्षय होता है, व्याधिग्रस्त होता है, रोगी होता है। किन्तु इस प्रकार की समाधि में, सिद्ध योगी के शरीर में बाह्य प्रकृति कोई क्रिया नहीं कर सकती, उसके शरीर की किसी भी प्रकार से क्षति नहीं कर सकती।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्व संयमादिन्द्रियजयः ।।४८ ।।

– इन्द्रियों की विषयमुखी गति, उस सम्बन्ध में उत्पन्न ज्ञान और अंहकार तथा उनमें तीनों गुणों का प्रकाश एवं भोग-सामर्थ्य, – इन पाँच इन्द्रियों के रूपों पर संयम करने से, इन पंचरूपों को जीतने से योगी जितेन्द्रिय हो जाता है।

ततोमनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।।४९ ।।

– उससे (जितेन्द्रिय होने से) मन के वेग की तरह शरीर भी वेगवान, गतिमान होता है। इन्द्रियाँ शरीर-निरपेक्ष, शरीरातीत शक्ति प्राप्त करती है तथा उससे प्रकृति अपने वश में हो जाती है।

व्याख्या – इन्द्रियों पर मन को संयमित, एकाग्र करने से योगी का इन्द्रियों पर पूर्ण स्वामित्व, अधिकार हो जाता है। उस सिद्धि से योगी इच्छामात्र से जिस किसी स्थान पर चले जा सकते हैं। इन्द्रियों की सहायता के बिना ही रूप-रस आदि इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं का अनुभव कर सकते हैं। मुख्य बात है कि यह सम्पूर्ण प्रकृति ही मानो उनकी दासी या पूर्ण आज्ञाकारिणी हो जाती है। योगी उसको जैसे संचालित करते हैं, वह वैसे ही संचालित होती है। इस साधना में सिद्धि प्राप्त करने पर योगी सर्वशक्तिमान होते हैं।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।।५० ।।

– पुरुष और बुद्धि के भेद, पार्थक्य के उपर संयम करने

३. स्थूल – भूतों का दृश्यमान रूप (अवस्था) स्वरूप – भूतों का गुण, जैसे पृथ्वी की कठिनता, जल की तरलता, इत्यादि, सूक्ष्म – भूतों का सूक्ष्म रूप या तन्मात्रा, अन्वय – सत्त्व, रज और तम का प्रत्येक प्राणी में मिश्रित होकर रहना, अर्थवत्त्व – भोग प्रदान करने की क्षमता।

४. अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ – अणिमा, लघिमा, महिमा या गरिमा, प्राप्ति (दूरवर्ती वस्तु को निकट लाने की शक्ति), प्राकाम्य (स्वेच्छया विचरण) वशित्व, ईशित्व, (प्रभुत्व) एवं यत्रकामावसायित्व (स्वेच्छानुसार संकल्पसिद्धि)।

से सभी वस्तुओं के ऊपर स्वामित्व होता है और सभी विषयों का उसे ज्ञान प्राप्त होता है।

व्याख्या – इस प्रकार पूर्वोक्त अवस्था को प्राप्त कर योगी अपने स्वरूप पुरुष और अपनी लीला-क्षेत्र प्रकृति को सुस्पष्ट रूप से दो भिन्न प्रकार की वस्तु के रूप में जान सकते हैं। तब योगी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हो जाते हैं।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।।५१ ।।

– इन सिद्धियों के प्रति वैराग्य होने पर अविद्या से उत्पन्न अनेकों दोषों के बीज का नाश हो जाता है। उसके फलस्वरूप मुक्ति या कैवल्य की प्राप्ति होती है।

व्याख्या – योगी सर्वज्ञ-अवस्था को प्राप्त कर यदि प्रकृति के साथ क्रीड़ा करना सम्पूर्ण रूप से त्याग दें, तो वे असीम आनन्द और शान्ति स्वरूप कैवल्य-अवस्था को प्राप्त करते हैं। तब उनके ऊपर प्रकृति का कोई अधिकार नहीं रहता, प्रकृति उन्हें वशीभूत नहीं कर पाती।

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ।।५२ ।।

– स्थानि अर्थात् देवता, उपनिमन्त्रणे यानि लोभ दिखाने पर, अर्थात् देवताओं के द्वारा लोभ दिखाकर बुलाने पर भी योगी को उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये। अनासक्त होने के बाद योगी को विस्मित या आत्मप्रशंसित-भाव का भी बोध नहीं करना चाहिये। क्योंकि इससे योगी की अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है।[५]

व्याख्या – कैवल्य-प्राप्ति की योग्यता पूर्ण प्राप्त कर लेने पर सूक्ष्म देहधारी देवता, योगी को अनेकों प्रकार के भोगों का प्रलोभन दिखाकर उनके निर्वाण-मार्ग को बंद कर सकते हैं। ऐसा सुना जाता है कि भगवान बुद्ध, ईसा मसीह, श्रीरामकृष्ण आदि अवतारी पुरुषों के जीवन में इसी प्रकार की घटनायें घटी थीं। इस अवस्था में बुद्ध, ईसा मसीह, श्रीरामकृष्ण आदि की तरह जो लोग अपने-अपने इष्ट या लक्ष्य में दृढ़ रह सकते हैं, वे शीघ्र ही ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

क्षणतत्क्रमयोः संयमादि-विवेकजं ज्ञानम् ।।५३ ।।

– क्षण (समय का सबसे कम अंश) और उसके पूर्वापर अर्थात् आगे-पीछे के भावों पर संयम करने से विवेक-ज्ञान का उदय होता है।

जाति लक्षण देशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ।। ५४ ।।

– जाति-लक्षण और देशगत भेद की स्पष्ट अवधारणा नहीं होने के कारण सभी वस्तुयें अभिन्न, एक-सी प्रतीत होती हैं। पूर्वोक्त संयम के द्वारा अर्थात् क्षण और क्रम में संयम करने से, उनका भिन्न ज्ञान होता है।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषमयक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ।। ५५ ।।

– जो विवेक-ज्ञान सभी वस्तुओं और उनकी सभी प्रकार की अवस्थाओं को एक साथ ग्रहण कर सकता है, उसे तारक ज्ञान कहते हैं।

व्याख्या – स्वरूप की उपलब्धि का उपाय है – आत्म-अनात्म विवेक। उस विवेक-ज्ञान की प्राप्ति का एक दूसरा मार्ग है – समय की सूक्ष्मतम, अल्पतम अवस्था में मन को संयमित करना, एकाग्र करना। यदि एक हजार कमल-पत्र को एक सुई से एक बार में ही छेद दिया जाय, तब तो छेद करने का समय एक हजार भाग में विभक्त हो गया। समय के ऐसे सूक्ष्म अंश को गम्भीर समाधि में अनुभव कर लेने पर, संसार की वस्तुओं के स्वभाव, परिणाम आदि सब कुछ ज्ञात हो जाते हैं अर्थात् प्रकृति के विषय में योगी के लिये कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता है।

इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर इस संसार-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है, इसलिये इस ज्ञान का नाम 'तारक-ज्ञान' है। क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुओं को ज्ञात करने के लिये उन्हें (योगी को) कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। वे इच्छा करते ही एक साथ सृष्टि की सभी वस्तुओं को ज्ञात कर सकते हैं।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ।।५६ ।।

– जब पुरुष की तरह ही सत्त्व अर्थात् बुद्धि शुद्ध हो जाती है, तब कैवल्य की प्राप्ति होती है।

व्याख्या – विवेक-ज्ञान का पूर्ण प्रकाश होने पर बुद्धि में लेशमात्र भी वासना नहीं रहती है। उस समय बुद्धि इतनी शुद्ध हो जाती है कि स्वरूप (पुरुष) और बुद्धि में कोई भिन्नता का बोध नहीं होता। तब बुद्धि का और कोई प्रयोजन, उद्देश्य भी नहीं रहता, इसीलिये वह लुप्त हो जाती है। तब योगी केवल अपने शुद्ध-स्वरूप का ही बोध करते हैं। इसे ही कैवल्य-प्राप्ति कहते हैं। **❖ (क्रमशः) ❖**

विभूतिपाद तृतीय अध्याय समाप्त।

५. पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने तक योगी को सावधान रहने की अत्यन्त आवश्यकता है। योग के प्रभाव की अद्भुत शक्ति को देखकर, योगी को उससे उल्लसित या विस्मित नहीं होना चाहिये। ये सभी अनुभूतियाँ सिद्धि या मुक्ति अथवा कैवल्य-प्राप्ति में बाधक हैं। इनसे योगी का पतन होता है। पुराण आदि में बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों के सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व ही मोहित, लुब्ध हो जाने के अनेकों उपाख्यान मिलते हैं। इन उपाख्यानों में देखा जाता है कि समबद्ध योगी या साधकगण सिद्धि के द्वार तक पहुँचकर भी पतित हो गये हैं। इन सभी उपाख्यानों का मूल तात्पर्य यह है – योगी या साधक किसी भी क्षण अपनी मनोवस्था को सुनिश्चित और सुरक्षित न सोचें, क्योंकि सिद्धि के पूर्व क्षण में भी पतन की सम्भावना रहती है। साधक के जीवन के लिये आत्मसन्तोष अत्यन्त हानिकर है।

स्वामीजी की अस्फुट स्मृतियाँ

स्वामी शुद्धानन्द

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

❖ (गतांक से आगे) ❖

आज बहुत-से छात्र आये हैं। स्वामीजी एक कुर्सी पर बैठे हुए हैं। सभी उनके पास बैठकर उनकी कुछ बातें सुनने को उत्सुक हैं। पर वहाँ अन्य कोई आसन नहीं हैं, जिस पर लड़कों को बैठाया जा सके, अत: उन्हें फर्श पर ही बैठना पड़ा। स्वामीजी मन-ही-मन सोच रहे हैं कि इन लोगों के बैठने हेतु आसन होने से अच्छा होता। परन्तु फिर लगा कि उनके मन में दूसरा भाव उत्पन्न हुआ। वे बोल उठे, "अच्छा है, तुम लोग ठीक बैठे हो, थोड़ी-थोड़ी तपस्या भी उचित है।"

एक दिन मैं अपने मुहल्ले के चण्डीचरण बर्धन को साथ लेकर स्वामीजी के पास गया। चण्डी बाबू 'हिन्दू ब्वायेज स्कूल' नामक एक छोटी-सी संस्था के मालिक थे। वहाँ तृतीय श्रेणी तक की अँग्रेजी पढ़ायी जाती थी। वे पहले से ही ईश्वरानुरागी थे और बाद में स्वामीजी के व्याख्यान आदि पढ़कर उनके प्रति बड़े श्रद्धालु हो गये थे।

पहले कभी उन्होंने साधना के लिये व्याकुल होकर संसार त्यागने की भी चेष्टा की थी, परन्तु उसमें सफल नहीं हो सके थे। शौक मिटाने के लिये उन्होंने कुछ दिन थियेटर में अभिनय तथा दो-एक नाटकों की भी रचना की थी। स्वभाव से ये बड़े भावुक थे। विख्यात सुधारक एडवर्ड कारपेंटर के भारत-भ्रमण के समय उनके साथ चण्डीबाबू का परिचय और बातचीत हुई थी। उन्होंने अपने 'एडम्स पीक टु एलिफैंटा' नामक ग्रन्थ में चण्डी बाबू के साथ हुए वार्तालाप का कुछ विवरण और उनका एक चित्र भी दिया है।

चण्डीबाबू ने भक्तिपूर्वक स्वामीजी को प्रणाम करके पूछा, "स्वामीजी, कैसे व्यक्ति को गुरु बनाना उचित है?"

स्वामीजी – "जो तुम्हें तुम्हारा भूत और भविष्य बता सकें, वे ही तुम्हारे गुरु हैं। देखो न, मेरे गुरुदेव ने मेरा भूत-भविष्य – सब कुछ बता दिया था।"

चण्डी बाबू ने पूछा, "अच्छा स्वामीजी, कौपीन पहनने से क्या काम-दमन में कोई विशेष सहायता मिलती है।"

स्वामीजी – "थोड़ी-बहुत सहायता मिल सकती है। परन्तु जब वह वृत्ति प्रबल हो उठती है, तो फिर कौपीन भी भला क्या करेगा? मन जब तक पूरी तौर से भगवान में तन्मय नहीं हो जाता, तब तक किसी भी बाह्य उपाय से काम को पूर्णतया रोका नहीं जा सकता। तो भी, जब तक व्यक्ति पूरी तौर से उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक स्वाभाविक रूप से ही तरह-तरह के बाह्य उपायों के अवलम्बन का प्रयास किया करता है। एक बार मेरे मन में भी काम का ऐसा उदय हुआ था कि मैं स्वयं पर खूब नाराज होकर अंगार भरे बरतन पर बैठ गया। बाद में उस घाव को सूखने में अनेक दिन लग गये थे।"

इस प्रकार चण्डी बाबू स्वामीजी से ब्रह्मचर्य के विषय में अनेक प्रश्न पूछने लगे। स्वामीजी भी बड़े सरल भाव से उन सभी प्रश्नों का उत्तर देने लगे। चण्डी बाबू सच्चे हृदय से साधना करने का प्रयास करते थे, पर गृहस्थ होने के कारण अपनी इच्छानुसार कर नहीं पाते थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि साधना के लिये ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु वे सन्तोषजनक रूप से उसका पालन नहीं कर पाते थे। वे लड़कों के अध्यापन-कार्य में लगे रहते थे, अत: भलीभाँति जानते थे कि किस प्रकार साधना, सुशिक्षा के अभाव तथा कुसंग के कारण अत्यन्त अल्प अवस्था में ही उन लोगों का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है; और उन बच्चों को किस उपाय से इससे रोका जाय, इसकी शिक्षा देने के लिये वे सदा सचेष्ट रहा करते थे। परन्तु **स्वयम् असिद्धः कथं परान् साधयेत्** – स्वयं पालन किये बिना दूसरों से कैसे पालन कराया जा सकता है!

अत: किसी भी तरह अपने या दूसरे के भीतर ब्रह्मचर्य का भाव प्रविष्ट कराने में असमर्थ होकर बीच-बीच में वे बड़े दुखी हो जाते थे। अब परम ब्रह्मचारी स्वामीजी के ज्वलन्त उपदेश तथा ओजस्वी वाणी सुनकर सहसा उनके मन में आया कि एक बार इच्छा करने से ही ये महापुरुष मेरे तथा मेरे छात्रों के भीतर ब्रह्मचर्य के उस प्राचीन भाव को निश्चित ही उद्दीप्त कर सकते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि

चण्डी बाबू बड़े भावुक व्यक्ति थे। सहसा अदम्य उत्साह से उत्तेजित होकर वे अंग्रेजी में चिल्लाकर बोल उठे – "Oh Great Teacher ! tear up the veil of hypocrisy and teach the world the one thing needful – how to conquer lust." (अर्थात् "हे महाचार्य, आप इस कपटता के आवरण को छिन्न-भिन्न कर दें और जगत् को एक ही आवश्यक वस्तु की शिक्षा प्रदान करें – काम पर कैसे विजय प्राप्त हो !")

स्वामीजी ने चण्डी बाबू को शान्त एवं आश्वस्त किया।

इसके बाद एडवर्ड कारपेंटर का प्रसंग उठा। स्वामीजी ने कहा, "लन्दन में ये बहुधा मेरे पास आकर बैठे रहते थे। और भी अनेक प्रजातांत्रिक, समाजवादी आदि आया करते थे। वे सभी वेदान्तोक्त धर्म में अपने-अपने मत की पोषकता पाकर वेदान्त के प्रति खूब आकृष्ट होते थे।"

स्वामीजी कारपेंटर साहब की 'एडम्स पीक टु एलिफैंटा' नामक पुस्तक पढ़ चुके थे। तभी उन्हें उस पुस्तक में छपी चण्डी बाबू के चित्र की याद आयी। वे बोले, "आपका चेहरा तो पहले ही पुस्तक में देख चुका हूँ।" और भी थोड़ी देर बातचीत के बाद संध्या हो जाने के कारण स्वामीजी विश्राम करने के लिये उठे। उठते समय वे उन्हें सम्बोधित करके बोले, "चण्डी बाबू, आप तो बहुत से लड़को के सम्पर्क में आते रहते हैं। क्या मुझे कुछ सुन्दर-सुन्दर लड़के दे सकेंगे?" लगा कि चण्डी बाबू थोड़े अन्यमनस्क थे और स्वामीजी की उक्ति का सही मर्म नहीं समझ सके। इसके बाद स्वामीजी जब विश्राम-कक्ष में प्रवेश कर रहे थे, तब वे आगे बढ़कर बोले, "सुन्दर लड़कों के बारे में आप क्या कह रहे थे?"

स्वामीजी बोले, "जो देखने में सुन्दर हों, ऐसे लड़के मैं नहीं चाहता – मैं कुछ ऐसे लड़के चाहता हूँ, जो खूब स्वस्थ शरीरवाले, कर्मठ तथा सत् स्वभाव से युक्त हों। मैं उन्हें प्रशिक्षित करना चाहता हूँ, ताकि वे लोग अपनी मुक्ति और जगत् के कल्याण के लिये तैयार हो सकें।"

एक अन्य दिन जाकर मैंने देखा – स्वामीजी टहल रहे हैं और श्रीयुत् शरत्चन्द्र चक्रवर्ती ('स्वामी-शिष्य-संवाद' ग्रन्थ के प्रणेता) उनके साथ खूब घनिष्ठ भाव से बातें कर रहे हैं। स्वामीजी से एक प्रश्न पूछने की हमें बड़ी उत्सुकता थी। प्रश्न था – अवतार और मुक्त या सिद्ध पुरुष में क्या भेद है? हमने शरत् बाबू से विशेष अनुरोध किया था कि वे स्वामीजी के समक्ष यह प्रश्न रखें। अत: उन्होंने आगे बढ़कर स्वामीजी से यह प्रश्न पूछा। स्वामीजी इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं – यह सुनने के लिये हम लोग शरत् बाबू के पीछे-पीछे गये। स्वामीजी उस प्रश्न का कोई प्रत्यक्ष उत्तर न देकर कहने लगे, "विदेह-मुक्ति ही सर्वोच्च अवस्था है – यही मेरा सिद्धान्त है। परन्तु जब मैं अपनी साधनावस्था में भारत के विविध स्थानों का भ्रमण कर रहा था, उस समय मैंने अनेक निर्जन गुफाओं में अकेले बैठकर कितना समय बिताया है; मुक्ति नहीं हुई – यह सोचकर कितनी ही बार उपवास करके देह त्यागने का भी संकल्प किया है; कितना ध्यान, कितना साधन-भजन किया है ! परन्तु अब अपनी मुक्ति के लिये वैसा तीव्र आग्रह नहीं रहा। अब तो मन में केवल यही बात आती है कि **जब तक धरती पर एक भी व्यक्ति बद्ध है, तब तक मुझे अपनी मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं।**"

मैं तो स्वामीजी की यह वाणी सुनकर उनके हृदय की अपार करुणा के बारे में सोचकर विस्मित हो गया और सोचने लगा कि ये क्या अपना दृष्टान्त देकर अवतारी पुरुषों का लक्षण समझा रहे हैं? क्या ये भी एक अवतार हैं? फिर मन में आया कि स्वामीजी अब मुक्त हो गये हैं, इसीलिये लगता है, उन्हें अपनी मुक्ति के लिये कोई आग्रह नहीं है।

एक अन्य दिन मैं और खगेन (स्वामी विमलानन्द) संध्या के बाद स्वामीजी के पास गये। श्रीरामकृष्ण के भक्त हरमोहन बाबू हमें विशेष रूप से स्वामीजी के साथ परिचित कराने हेतु बोले, "स्वामीजी, ये दोनों आपके बड़े प्रशंसक हैं और वेदान्त पर खूब चर्चा भी करते हैं।" हरमोहन बाबू के वाक्य का पूर्वार्ध सत्य होने के बावजूद उत्तरार्ध थोड़ा अतिरंजित था, क्योंकि हम लोगों ने उस समय तक केवल गीता का ही अध्ययन किया था और वेदान्त के कुछ छोटे-छोटे ग्रन्थ तथा कुछ उपनिषदों का अनुवाद देखे भर थे, परन्तु न तो हमने इन शास्त्रों का गम्भीरता से अध्ययन किया था और न ही मूल संस्कृत ग्रन्थों को भाष्य आदि के साथ पढ़ा था।

अस्तु, वेदान्त की बात सुनते ही स्वामीजी बोल उठे, "कुछ उपनिषद् पढ़े हैं?"

मैं – "जी हाँ, थोड़ा-बहुत देखा है।"

स्वामीजी – "कौन-सा उपनिषद् पढ़ा है?"

मैंने मन को टटोला और कहने योग्य कुछ न पाकर बोल उठा, "कठोपनिषद् पढ़ा है।"

स्वामीजी ने कहा, "अच्छा, वही सुनाओ; कठोपनिषद् बड़ा grand (सुन्दर) है – कवित्व से परिपूर्ण है।"

बड़ी मुश्किल है ! स्वामीजी ने शायद समझा कि मुझे कठोपनिषद् याद है, इसीलिये सुनाने को कहा। यद्यपि उसके संस्कृत मंत्रों को मैंने एकाध बार देखा था, पर कभी अर्थसहित पढ़ने या कण्ठस्थ करने की चेष्टा नहीं की थी। अत: मैं बड़े संकट में पढ़ा। अब मैं क्या करूँ? तभी मेरे मन में एक योजना आयी। कुछ वर्ष पहले से ही मैं हर रोज नियमित रूप से गीता का थोड़ा-थोड़ा पाठ किया करता था। अत: गीता के अधिकांश श्लोक मुझे याद थे। सोचा कि किसी भी प्रकार यदि मैं शास्त्र के कुछ श्लोकों की आवृत्ति न कर सकूँ, तो फिर स्वामीजी को मुँह दिखाने योग्य न रहूँगा। अत:

बोला, "कठ तो याद नहीं है, गीता से कुछ सुनाता हूँ।"

स्वामीजी बोले, "अच्छा, वही सुनाओ।"

तब मैंने गीता के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम भाग से – **स्थाने हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या** – से आरम्भ करके अर्जुनकृत पूरा स्तव स्वामीजी को सुना दिया। सुनकर स्वामीजी प्रोत्साहन देते हुए 'बहुत अच्छा', 'बहुत अच्छा' कहने लगे।

अगले दिन मैं अपने मित्र राजेन्द्र घोष को साथ लेकर स्वामीजी के दर्शनार्थ गया। मैंने उसे पहले ही कह दिया था, "भाई, कल मैं उपनिषद् के कारण स्वामीजी के सामने बड़ा मुश्किल में पड़ गया था। तुम्हारे पास यदि कोई उपनिषद् हो, तो उसे जेब में ले चलो। यदि वे कल के समान उपनिषद् की बात निकालेंगे, तो उसी को पढ़ने से काम हो जायेगा।" राजेन्द्र के पास प्रसन्न कुमार शास्त्रीकृत ईश-केन-कठ आदि उपनिषदों तथा उनके बंगानुवाद का एक जेबी संस्करण था। उसी को जेब में रखकर हम लोग गये। आज अपराह्न में स्वामीजी का कमरा लोगों से भरा हुआ था। मैंने जो सोचा था, वही हुआ। ठीक स्मरण नहीं कि कैसे, पर आज भी कठोपनिषद् का ही प्रसंग उठा। मैंने तत्काल जेब से उसे निकाला और उस उपनिषद् के आरम्भ से पढ़ने लगा। पाठ के बीच में स्वामीजी नचिकेता की उस श्रद्धा के बारे में बोलने लगे, जिसके बल पर उन्होंने निर्भीक चित्त से यम के भी घर जाने का साहस किया था। जब नचिकेता के दूसरे वर – स्वर्ग-प्राप्ति के प्रसंग का पाठ शुरू हुआ, तो स्वामीजी ने उस अंश को अधिक न पढ़कर, थोड़ा-बहुत छोड़कर तीसरे वर का प्रसंग पढ़ने को कहा।

नचिकेता द्वारा पूछना – लोगों को यह सन्देह रहता है कि मृत्यु के बाद शरीर छूट जाने के बाद कुछ रहता है या नहीं; फिर यम द्वारा नचिकेता को प्रलोभन देना और नचिकेता का दृढ़तापूर्वक उन सबको अस्वीकार कर देना – आदि स्थलों का थोड़ा-सा पाठ हो जाने के बाद स्वामीजी उस विषय पर अपनी स्वभाव-सुलभ ओजस्वी भाषा में बहुत-कुछ कहने लगे – परन्तु अब उसकी कुछ भी स्मृति नहीं रह गयी है।

परन्तु इन दो दिनों की उपनिषद्-चर्चा के फलस्वरूप स्वामीजी की उपनिषदों के प्रति श्रद्धा एवं प्रीति का कुछ अंश मुझमें भी संचरित हो गया था, क्योंकि उसके बाद से मुझे जब भी सुयोग मिलता, मैं परम श्रद्धा के साथ उपनिषदों को पढ़ने की चेष्टा करता और अब भी करता हूँ। विभिन्न अवसरों पर उनके श्रीमुख से उच्चरित, अपूर्व स्वर-लय-ताल और तेजस्विता के साथ पठित उपनिषदों के एक-एक मंत्र मानो अब भी अपने दिव्य कानों में सुन पाता हूँ। जब परचर्चा में डूबकर आत्म-चर्चा को भूल जाता हूँ, तब उनके उस सुपरिचित किन्नर कण्ठ से उच्चरित उपनिषदों के सन्देश की दिव्य गम्भीर घोषणा को सुन पाता हूँ –

तमेवैकं जानथ आत्मानम्-
अन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।[१]

– 'एकमात्र उस आत्मा को ही जानो, अन्य सब बातें छोड़ दो; वही अमृतत्व का सेतु है।'

जब आकाश घोर घटाओं से आच्छन्न हो जाता है और बिजली चमकने लगती है, तब मानो लगता है कि स्वामीजी उस नभस्थ दामिनी की ओर संकेत करते हुए कह रहे हैं –

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।[२]

– 'वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा या तारे ही। ये सब विद्युत् भी वहाँ प्रकाशित नहीं होते, तो फिर इस सामान्य अग्नि की तो बात ही क्या है? उनके प्रकाशित होने से ही ये सभी प्रकाशित होते हैं – उन्हीं के प्रकाश से यह सब कुछ प्रकाशित हो रहा है।'

फिर जब परम ज्ञान को असाध्य जानकर हताश हो जाता हूँ, तब मानो सुन पाता हूँ – स्वामीजी आनन्दोत्फुल्ल हो उपनिषद् की इस आश्वासन-वाणी की आवृत्ति कर रहे हैं –

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।। ...
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।[३]

– 'हे अमृत के पुत्रो, हे दिव्यधाम के निवासियो, तुम लोग सुनो। मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो आदित्य की भाँति ज्योतिर्मय और अज्ञान के अन्धकार के परे हैं। उनको जान लेने से ही व्यक्ति मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है – मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं।'

एक अन्य दिन की घटना संक्षेप में कहूँगा। इस दिन की घटना का शरत् बाबू ने 'विवेकानन्दजी के संग में' नामक अपने ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

मैं उस दिन दोपहर में ही जा पहुँचा था। देखा – कमरे में अनेक गुजराती पण्डित बैठे हैं, स्वामीजी उनके पास बैठकर धाराप्रवाह संस्कृत भाषा में धार्मिक विषयों पर चर्चा कर रहे हैं। भक्ति-ज्ञान आदि कई विषयों पर चर्चा हो रही थी। तभी सहसा शोर मचा। ध्यान देने पर समझ में आया

१. मुण्डकोपनिषद्, २/२/५
२. कठोपनिषद्, २/२/१५
३. श्वेताश्वतरोपनिषद्, २/५; ३/८

कि संस्कृत भाषा में बोलते-बोलते स्वामीजी से व्याकरण की कोई भूल हो गयी है। इस पर पण्डित लोग ज्ञान-भक्ति-वैराग्य आदि की चर्चा छोड़कर इस त्रुटि को लेकर ही, 'हमने स्वामीजी को हरा दिया' – कहते हुए खूब शोरगुल मचा रहे हैं और प्रसन्न हो रहे हैं। उस समय मुझे श्रीरामकृष्ण देव की उस उक्ति की स्मृति हो आयी – "गिद्ध उड़ता तो खूब ऊँचाई पर है, परन्तु उसकी दृष्टि सदा मरे हुए पशुओं पर ही रहती है।" अस्तु, स्वामीजी जरा भी विचलित हुए बिना बोले, '**पण्डितानां दासोऽहं क्षन्तव्यमेतत्स्खलनम् ।**' थोड़ी देर बाद स्वामीजी उठ गये और पण्डित लोग गंगाजी में हाथ-मुँह धोने चले गये। मैं भी बगीचे में घमूते-घूमते गंगाजी के तट पर गया। वहाँ पण्डितगण स्वामीजी के बारे में चर्चा कर रहे थे। वे लोग कह रहे थे, "स्वामीजी उस तरह के पण्डित नहीं हैं, परन्तु उनकी आँखों में एक मोहिनी शक्ति है। उसी शक्ति के बल से उन्होंने अनेक स्थानों पर दिग्विजय की है।"

सोचा – पण्डितों ने तो ठीक ही समझा है। यदि इनकी आँखों में मोहिनी शक्ति न होती, तो इतने विद्वान्, धनी-मानी, प्राच्य-पाश्चात्य के विभिन्न स्वभावों के स्त्री-पुरुष क्या यों ही इनके पीछे-पीछे दास के समान दौड़ते ! यह विद्या के कारण नहीं, रूप के कारण नहीं, ऐश्वर्य के कारण भी नहीं – अपितु यह तो उनकी आँखों की उस मोहिनी शक्ति के ही कारण है ! पाठको, स्वामीजी की आँखों में यह मोहिनी शक्ति कहाँ से आयी, यदि यह जानने का कुतूहल हो, तो मेरे गुरुदेव के साथ दिव्य सम्बन्ध स्थापित करो और श्रद्धापूर्वक उनकी असाधारण साधनाओं का विवरण जानने का प्रयास करो।

१८९७ ई. के अप्रैल का अन्तिम भाग। अभी चार-पाँच दिन ही हुए, मैं घर छोड़कर आलमबाजार मठ में रह रहा हूँ। पुराने संन्यासियों में से केवल स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी निर्मलानन्द और स्वामी सुबोधानन्द हैं। कुछ दिनों बाद ही स्वामीजी दार्जिलिंग से आये। उनके साथ स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी योगानन्द, स्वामीजी के मद्रासी शिष्य आलसिंगा पेरुमल, किडी और जी. जी. नरसिंहाचार्य आदि हैं।

कुछ ही दिनों पूर्व स्वामीजी ने स्वामी नित्यानन्द को संन्यास-व्रत में दीक्षित किया है। इन्होंने स्वामीजी से कहा, "इस समय बहुत-से नये-नये लड़के घर छोड़कर मठवासी हुए हैं। उनके लिये एक निर्दिष्ट नियम के अनुसार शिक्षा-दान की व्यवस्था करने से बड़ा अच्छा रहेगा।"

स्वामीजी उनके विचार का अनुमोदन करते हुए बोले, "हाँ, हाँ, नियम बनाना तो अच्छा ही है। सबको बुलाओ।" सब आकर बड़े कमरे में एकत्र हुए। तब स्वामीजी ने कहा, "कोई एक व्यक्ति लिखना शुरू करो, मैं बोलता हूँ।" तब सभी एक-दूसरे को ठेलकर आगे करने लगे – कोई अग्रसर नहीं हो रहा था, अन्त में मुझे ढकेलकर आगे कर दिया।

उस समय मठ में लिखाई-पढ़ाई के प्रति एक प्रकार की अनिच्छा का भाव था। सब सोचते थे कि साधन-भजन करके ईश्वर का साक्षात्कार करना ही सार बात है; और पढ़ाई आदि करने से तो मान-यश की इच्छा होगी; अत: जो लोग ईश्वर का आदेश पाकर प्रचार आदि कार्य करेंगे, उनके लिये वह आवश्यक हो, तो भी साधकों के लिये उसकी कोई उपयोगिता नहीं है, बल्कि उल्टे वह हानिकारक ही होगी।

मेरे लिखने हेतु अग्रसर होने पर स्वामीजी ने पूछा कि क्या यह मठ में सम्मिलित होने आया है या फिर लौट जायेगा? किसी ने कहा कि मठ में ब्रह्मचारी होने आया है। मैंने कागज-कलम आदि ठीक से लेकर गणेश का आसन ग्रहण किया। नियम बोलने के पूर्व स्वामीजी कहने लगे, "देखो, हम ये नियम बना तो रहे हैं, परन्तु पहले हमें समझ लेना होगा कि इन नियमों को बनाने का मूल उद्देश्य क्या है। हमारा मूल उद्देश्य है – सभी नियमों से पार जाना। नियम बनाने का अर्थ यह है कि हम लोगों में स्वभाव से ही बहुत-से कुनियम हैं; हमें सुनियमों के द्वारा उन कुनियमों को दूर करने के बाद, अन्त में सभी नियमों से परे जाने की चेष्टा करनी होगी। वैसे ही जैसे कि एक काँटे से दूसरा काँटा निकालने के बाद अन्त में दोनों को फेंक दिया जाता है।"

उसके बाद नियम लिखाये जाने लगे। ऐसी व्यवस्था निर्धारित हुई कि सुबह और शाम को जप-ध्यान, दोपहर में विश्राम के बाद शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन और अपराह्न के समय सबको मिलकर एक पाठक से किसी निर्दिष्ट शास्त्र-ग्रन्थ आदि का श्रवण करना होगा। यह भी निश्चित हुआ कि प्रतिदिन सुबह और शाम को थोड़ा-थोड़ा डेल्सर्ट व्यायाम करना होगा। एक नियम यह भी लिखा गया कि मादक पदार्थों में तम्बाकू के सिवा अन्य कोई पदार्थ नहीं चलेगा।

लिखाना पूरा हो जाने पर स्वामीजी ने कहा, "देख, इन नियमों को जरा देख-भालकर अच्छी तरह नकल करके रख ले – देखना, यदि कोई नियम negative (नकारात्मक) भाव से लिखा गया हो, तो उसे positive (सकारात्मक) कर लेना।" इस अन्तिम आदेश का पालन करते समय हमें थोड़ी कठिनाई हुई थी। स्वामीजी का उपदेश था कि लोगों को बुरा बताना, उनकी निन्दा करना, उसके दोष दिखाना, उनसे 'तुम ऐसा मत करो, वैसा मत करो' कहकर negative (निषेधात्मक) उपदेश देने से उसकी उन्नति में कोई विशेष सहायता नहीं होती, परन्तु यदि उन्हें कोई एक आदर्श दिखा दिया जाय, तो फिर उसी से उसकी सहज भाव से उन्नति हो सकती है, उसके दोष अपने आप ही चले जाते हैं। स्वामीजी का यही उद्देश्य था।

❖ (क्रमश:) ❖

सत्यनिष्ठा और भगवत्प्रेम

स्वामी प्रेमानन्द

(श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य द्वारा लिखित यह लेख (Truthfulness) सत्य की महिमा को विशेष रूप से व्याख्यायित करता है। अद्वैत आश्रम से प्रकाशित Religion and its Practice नामक पुस्तक से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

धर्म के क्षेत्र में कोरी बातों से कुछ भी होने-जाने वाला नहीं है। पूरे जी-जान से साधना करनी होगी। यदि हम ग्रामोफोन के रेकार्ड के समान शास्त्र के उपदेशों के तोते-रटन्त से सन्तुष्ट हो जायँ और आगे बढ़ने का प्रयास न करें, तो हमें धर्मलाभ की जरा भी उम्मीद नहीं करनी चाहिये। आन्तरिक अनुभूति ही आध्यात्मिकता की पहचान है। जिसके अन्दर धर्म का बीज है, उसमें उसका क्रमश: अंकुरण होता ही है। एक विशाल वृक्ष को उगाने के लिये जिस प्रकार बीज की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सबसे पहले हमारे अन्दर आध्यात्मिकता का बीज होना चाहिये, फिर हमें उस वृक्ष को उगाना होगा। हमें अनुभूति के लिये प्रयास करना होगा। अपना मन उसी एक विचार में ढालना होगा। अन्यथा सूक्तियों के ढेर से मस्तिष्क को भरकर बीच-बीच में दूसरों के सामने उसे दुहरा कर खूब पाण्डित्य का प्रदर्शन तो किया जा सकता है, परन्तु आध्यात्मिकता की उपलब्धि नहीं की जा सकती। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि विद्वान् लोग उन गिद्धों के समान हैं, जो उड़ते तो वायु में बड़ी ऊँचाई पर हैं, परन्तु उनकी दृष्टि सड़े मुर्दों की खोज में अर्थात् काम और कांचन पर ही लगी रहती है।

आध्यात्मिक होने के लिये सर्वप्रथम सत्यनिष्ठा की जरूरत है। यहाँ तक कि प्राणरक्षा तक के लिये भी सत्य को न छोड़ना चाहिये। भगवान सत्य-स्वरूप हैं और वे सत्यनिष्ठ व्यक्ति के वश में हैं। जो व्यक्ति मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य का पालन नहीं करता, उसके लिये धार्मिक होना असम्भव है और उसकी सारी साधना व्यर्थ है। अत: सर्वप्रथम प्राणपण से दृढ़तापूर्वक सत्यनिष्ठ बनो। भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कालों में एकमात्र सत्य की ही जय होती है।

धर्म क्या है? सिद्धान्त के रूप में बहुत-से लोग इसे काफी-कुछ समझते हैं, परन्तु खेद की बात है कि अपने ज्ञान को व्यावहारिक रूप देनेवाले लोगों की संख्या कितनी अल्प है! जो सत्य का पालन करता है, केवल उसी को उपलब्धि होगी। बहुधा लोग कहते हैं कि व्यापार में सत्य का पालन असम्भव है। परन्तु मेरा इसमें विश्वास नहीं है। जहाँ सत्य का राज्य है, वहाँ पर भगवान स्वयं ही निवास करते हैं। यदि कोई व्यापारी अपने घर में सत्य की स्थापना करता है, तो वह सभी धार्मिक व्यक्तियों में श्रेष्ठ माना जायेगा और उसके व्यापार में उन्नति अवश्यम्भावी है। नाग महाशय[१] की सत्य के प्रति बड़ी निष्ठा थी। एक बार वे कुछ खरीदने बाजार गये। दुकानदार ने उनसे उस वस्तु की कीमत के रूप में चार आने माँगे। सत्यनिष्ठ होने के कारण उन्होंने दुकानदार पर विश्वास करके मोलभाव नहीं किया। उनके पास ही खड़े एक व्यक्ति ने उन्हें चार आने देते देखकर विस्मयपूर्वक सोचा – "कैसे आदमी हैं ये! इन्होंने तो जरा भी मोलभाव नहीं किया। परन्तु जब उसे पता चला कि ये सन्त नाग महाशय हैं, जिनके मन में छल-प्रपंच की धारणा तक नहीं है, तो उसने दो आने की चीज के चार आने वसूलने के लिये दुकानदार को खूब खरी-खोटी सुनाई। दुकानदार के दिल में यह बात घर कर गयी। अत: अगले दिन नाग महाशय जब फिर उसी दुकान पर कुछ खरीदने के लिये आये, तो उसने पाँच आने की चीज के केवल दो आने माँगे। इस पर नाग महाशय हाथ जोड़कर दुकानदार से बोले – "आप मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों कर रहे हैं? इस वस्तु की कीमत दो आने से अधिक होगी। आप मुझसे उचित मूल्य लीजिये।" इस पर दुकानदार भावविभोर होकर सन्त के चरणों में नत हो गया। इसीलिये मैं कहता हूँ कि सत्य को पकड़े रहने पर तुम कभी घाटे में नहीं रहोगे। यदि तुम सत्यनिष्ठ रहे, तो तुम पर भगवान की कृपा अवश्य होगी और सांसारिक उन्नति के साथ-ही-साथ आध्यात्मिक प्रगति भी होगी।

यदि तुम्हारे अन्दर सत्यनिष्ठा है, तो बाकी सभी गुण, यहाँ तक कि आत्मसंयम भी अपने आप ही तुम्हारे अन्दर आ जायेंगे। परन्तु इस सत्यनिष्ठा को खो बैठने के कारण ही हमारी यह दुर्गति हुई है और हम कष्ट तथा अवनति के बोझ से कराह रहे हैं। अब इसी सुधार के लिये हमें पूरा प्रयास करना चाहिये – परन्तु सिर्फ थोथी बातों के द्वारा ही नहीं, अपितु पूर्ण मनोयोग और कर्मठता के साथ। साधना की प्रमुख बात है – जीवन में सच्चाई – आन्तरिक भावों के साथ बाह्य आचरण का साम्य – मन तथा मुख को एक करना। वर्तमान में हम सोचते कुछ और कहते कुछ अन्य हैं। अत: हम मिथ्याचारी हैं। यह अज्ञान और भ्रम का द्योतक है। जो कोई भी आध्यात्मिक बनना चाहता है, उसे बातें बनाना छोड़कर साधन-भजन में लग जाना चाहिये। ऐसे व्यक्ति के ऊपर ही परमात्मा की कृपा होती है और उसकी इहलोक तथा परलोक – दोनों की उन्नति होना निश्चित है।

इसी जीवन में मुक्ति पाने के लिये गीता में भगवान कृष्ण

१. श्रीरामकृष्ण के एक गृही शिष्य

हमें अनासक्त होकर कर्म करने की सलाह देते हैं। यह एक मनगढन्त बात या असामान्य मस्तिष्क की कपोल कल्पना नहीं है। हमने अपनी खुद की आँखों से ऐसे जीवन देखे हैं। हमें भी इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त करनी होगी। भले ही इसके लिये हमें अपना सर्वस्व भी क्यों न बलिदान कर देना पड़े, पर हमें इसकी उपलब्धि करनी ही होगी। अन्यथा धर्म, भक्ति आदि की बड़ी-बड़ी बातें, जीवन में अनुभूत हुए बिना कोरी बातें ही रह जायेंगी। मुक्ति पाये बिना हम शुद्ध भक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकते। हम जीवन की चाहे जिस अवस्था में भी क्यों न हों, हमें अपने पूर्ण आत्मबल के साथ कहना चाहिये कि हम निश्चय ही जीवन्मुक्त होंगे। परन्तु इसके लिये हमें अपने सम्पूर्ण जीवन को उत्सर्ग कर देना होगा। बहुत-से लोग भक्ति की बातें सुनना पसन्द करते हैं और उसे सुनना आनन्ददायक भी है; परन्तु जब हम उसकी साधना करना चाहते हैं, तो इसके लिये मानो हमें अपना सर्वस्व न्यौछावर करना पड़ता है।

एक बार एक व्यक्ति भगवत्प्रेम की प्राप्ति करना चाहता था। उसी समय उसने देखा कि एक फेरीवाला अपने सिर पर टोकरी लिये हाँक लगाते हुए सड़क पर चला जा रहा है – "प्रेम लो, प्रेम ! किसी को प्रेम लेना है? कोई प्रेम खरीदेगा, प्रेम?" इस पुकार को सुनकर कुछ बच्चे चिल्लाये – "हम लेंगे, हम प्रेम खायेंगे।" कुछ वयस्क भी बोल उठे – "हम भी प्रेम लेना चाहते हैं, हम प्रेम खरीदेंगे।" इस पर फेरीवाले ने अपने सिर से टोकरी उतारते हुए कहा – "आइये, बोलिये, आप में से किस-किस को कितना प्रेम चाहिये? मैं प्रेम वजन के अनुसार बेचता हूँ। कितना चाहिये जी? एक किलो?" यह कहते हुए उसने एक तेज धारवाला छुरा निकाला और फिर बोला – "इधर देखिये ! इससे अपना सिर काटकर दीजिये और आपके सिर के वजन के बराबर ही मैं प्रेम दे दूँगा।"

यदि तुम्हें प्रेम चाहिये, तो तुम्हें उसकी कीमत देनी होगी और कीमत है तुम्हारा सिर। कोई भी दिखावेपन या थोथी बातों के द्वारा धर्मजीवन की उपलब्धि नहीं कर सका है। इसकी एकमात्र कीमत बलिदान – महान् आत्मत्याग ही है। तुमने राधा के बारे में नहीं सुना है क्या? जिसे लोग अपने जीवन में इतना प्रिय मानते हैं, उन्होंने अपना वह सर्वस्व त्याग दिया था, इसीलिये तो उन्हें प्रभु की प्राप्ति हुई थी। हम लोगों ने स्वयं भी ऐसे जीवन देखे हैं। श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, नाग महाशय तथा अन्य लोकोत्तर चरित्र हमारी दृष्टि के सम्मुख सदैव जाज्वल्यमान हैं। यदि आध्यात्मिकता की चाह हो, तो ऐसे उदाहरणों का अनुकरण करो। पत्नी, पुत्र, धन, व्यवसाय, जीवन की सारी सुविधाएँ और उसके साथ-ही-साथ धर्म की भी उपलब्धि करना असम्भव है। तुम्हें सर्वस्व छोड़ना होगा और तभी तुम धर्मजीवन तथा आध्यात्मिकता की प्राप्ति कर सकोगे।

जीवन एक अबूझ पहेली

देवेन्द्र कुमार मिश्रा

तुमको लगता है, ऐसा होने से ऐसा होता है
लगता है तो लगता रहे
तुम्हारा अपना विचार है।
फिर नहीं होता, तो दुःखी क्यों होते हो
अपने ही विचार से।
ऐसा होने से ऐसा हो भी सकता है
नहीं भी हो सकता है
ऐसा होने से वैसा भी हो सकता है
ऐसे से वैसा, वैसे से ऐसा
और न जाने कैसे से कैसा।
कुछ भी निश्चित नहीं है
जो न जाना जा सके ठीक-ठीक
वही तो भविष्य है।
इसीलिये तो जीवन इतना रहस्य, रोमांच
और भाँति-भाँति रंगों से भरपूर है
अपना गणित ही देख लो
दो और दो चार, दो गुणा दो चार
तीन और एक चार
दस में से छः घटे तो चार
छः में से दो घटे तो चार
पाँच मे से एक घटे तो चार
चार के भी कितने प्रकार
फिर जीवन कोई संख्या तो है नहीं।
क्यों लगे रहते हो
सुखों की तलाश में, दुखों की खोज में
और न पाने पर रोने-पीटने लगते हो।
हर बात की वजह, हर बात के कारण होते होंगे।
पर एक नहीं कई-कई
मरीज अपनी लापरवाही से भी मर सकता है
डॉक्टर की लापरवाही से भी मर सकता है
ज्यादा दुख से, ज्यादा खुशी से भी
प्राकृतिक प्रकोप से, या व्यक्तिविशेष के कोप से
न जीने की चाह से, या अपनी मौत से
हत्या, आत्महत्या, मौत, दैवी प्रकोप
कुछ भी नाम देते रहो।
तुम्हारा अपना मत है
जीवन जैसा है वैसा है, द्वंद से भरा अनिश्चित
जीवन बिल्कुल जीवन जैसा है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

स्वामी यतीश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ तथा मिशन के पूर्व उपाध्यक्ष स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज (१८८९-१९६६) नव-वेदान्त के एक गम्भीर प्रवक्ता थे। उन्होंने अनेकों वर्षों तक यूरोप और अमेरिका में वेदान्त-प्रचार किया था। उनके द्वारा रचित 'ध्यान और आध्यात्मिक जीवन' ग्रन्थ एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ के रूप में सर्वमान्य हुआ है। सन् १९३४ के जनवरी-फरवरी माह में जर्मनी के विसबादन नगर में उन्होंने श्री सदानन्द कृत 'वेदान्त-सार' ग्रन्थ पर जो कक्षाएँ ली थीं, वर्तमान लेख उन्हीं के नोट्स पर आधारित है। अनुवादक हैं – स्वामी ब्रह्मेशानन्द – सं.)

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है – **तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण अनुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामाचारो भवति** – "ऐसा होने से जो ब्रह्मचर्य के द्वारा (शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश के अनुसार) इस ब्रह्मलोक को जानते हैं, उन्हीं को यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है तथा उनकी सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ गति होती है।"[१]

इस शास्त्रांश पर अपने भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं – **तत्तत्रैवं यथोक्तं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण स्त्रीविषय-तृष्णा-त्यागेन शास्त्राचार्योपदेशं अनुविन्दन्ति स्वात्म संवेद्यतामापादयन्ति ये तेषामेव ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मविदामेष ब्रह्मलोकः। नान्येषां स्त्रीविषय-सम्पर्कजात-तृष्णानां ब्रह्मविदामपीत्यर्थः। तेषां सर्वेषु लोकेषु कामाचारो भवतीत्युक्तार्थम्। तस्मात् परमेतत् साधनं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मविदामित्यभिप्रायः।** अर्थात् "जो इस पूर्वोक्त ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य स्त्रीविषयक तृष्णा के त्याग के द्वारा शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश के अनन्तर जानते हैं अर्थात् स्वात्मसंवेद्यता को प्राप्त करते हैं, उन ब्रह्मचर्यरूप साधन-सम्पन्न ब्रह्मोपासकों को ही यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। अन्य स्त्रीविषयक सम्पर्क जनित तृष्णावालों को ब्रह्मोपासक होने से भी इसकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा इसका तात्पर्य है। उनकी सम्पूर्ण लोकों में स्वेच्छा गति हो जाती है। अत: इसका तात्पर्य है कि ब्रह्मचर्य ब्रह्म के उपासकों का परम साधन है।"

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मचर्य 'यज्ञ' और 'इष्ट' है – **अथ यद् यज्ञं इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते।** अर्थात् "अब (लोक में) जिसे 'यज्ञ' (परम पुरुषार्थ का साधन) कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि जो ज्ञाता है, वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ही उस (ब्रह्मलोक) को प्राप्त करता है। जिसे 'इष्ट' ऐसा कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा पूजन करके ही पुरुष आत्मा को प्राप्त करता है।"[२]

पवित्रता और उदात्तीकरण की आवश्यकता

एकाग्रता के साथ उदात्तीकरण की प्रक्रिया भी आवश्यक है। अन्यथा अत्यधिक एकाग्रता तो होगी, पर गलत दिशा में होगी। इसके फलस्वरूप सारी सभ्यता बन्दूकों के कारखानों और संहार के उपकरणों से युक्त आसुरी सभ्यता हो जायेगी।

यौन-भाव, देहात्म बोध, भौतिकता के भाव को पर्याप्त मात्रा में कम किये बिना आध्यात्मिक अनुभूति नहीं की जा सकती। सर्वप्रथम मन को निम्न भौतिक केन्द्रों से हटाकर उच्चतर चक्रों में से किसी एक पर उठाना होगा। इसके बाद चित्तशुद्धि करनी होगी। 'मैं पुरुष हूँ', 'मैं स्त्री हूँ' – यह भाव सभी प्रकार की उच्चतर अनुभूतियों में बाधक है। देहात्म-बोध को उसके सूक्ष्मतम रूप में भी दूर किये बिना, हम उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते।

अत: सदा सजग रहो और अपने मन की गतिविधियों पर नजर रखो। मन में ज्योंही निम्न केन्द्रों की ओर जाने की वृत्ति उदित हो, त्योंही मन को बलपूर्वक उससे हटाकर उच्चतर केन्द्रों में से किसी एक में लगा दो।

शुद्ध मन के बिना तुम कुछ नहीं कर सकते। यदि तुम आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहते हो, तो सबसे पहले तुम्हें देह और मन को शुद्ध करना होगा। दिन-पर-दिन, दिन -रात, धैर्यपूर्वक, महान् दृढ़ता और संकल्प के साथ, बिना व्यवधान के, निरन्तर धीरे-धीरे अग्रसर होओ। तभी तुम लक्ष्य प्राप्त कर सकोगे।

विवाहित, गृहस्थ स्त्री और पुरुषों को भी संयत जीवन यापन करना सीखना चाहिये। सभी स्थितियों में इस बात पर बल देना चाहिये। सर्वप्रथम इस मानसिक पवित्रता पर ध्यान दो, विशेषकर यौन-सम्बन्धी पवित्रता और यौन-जीवन पर ध्यान दो। पहले अपने सभी विचारों और संवेगों की शुद्धि पर ध्यान दो। उसके बाद सब कुछ स्वाभाविक रूप से स्वत: ही कालक्रम से हो जायेगा। देहात्मबोध को दूर करो, उसके बाद मन के पार जाने का प्रयत्न करो।

सबसे पहले सांसारिकता और सांसारिक वासनाओं के चमगादड़ों को भगाना है। तुम्हारे भीतर अन्धकारमय कोने और छिपने के स्थान हैं और चमगादड़ सदा ऐसे कोने और अन्धकारमय गन्दे स्थान पसन्द करते हैं। दस इन्द्रियाँ और मन ही ये 'ग्यारह चमगादड़' हैं। ये ग्यारह चमगादड़ इस मानव-मन्दिर को गन्दा और दुर्गन्धियुक्त कर रहे हैं। संयत जीवन-यापन, नित्य स्वाध्याय एवं मनन और नियमित साधना

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ८/४/३

२. वही, ८/५/१

द्वारा इन विचारों में निहित सत्य को अपने अचेतन मन की गहराई में डालने का प्रयत्न करो। संयत जीवन-यापन, नैतिक आचरण और ब्रह्मचर्य सभी तरह की आध्यात्मिक प्रगति के अनिवार्य अंग हैं।

चित्तशुद्धि, मन:संयम और उसके बाद होनेवाली प्रक्रिया की जानकारी में सहायक बातों के अतिरिक्त और कुछ भी वास्तविक सुख प्रदान नहीं कर सकता। जिसका मन शान्त और पवित्र नहीं है, उसके लिये प्रार्थनायें क्रिया-अनुष्ठान, तीर्थ-यात्रायें आदि व्यर्थ हैं। अत: चित्तशुद्धि और मन:संयम का अभ्यास करना चाहिये। चित्तशुद्धि और मन के संयम से हमारी सभी आकांक्षायें पूर्ण की जा सकती हैं।

यदि तुम अद्वैतानुभूति प्रदान करानेवाली उच्चतर साधनायें करना चाहते हो, तो ब्रह्मचर्य और अन्य सभी प्रारम्भिक शर्तों को पूर्ण करना आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन को यदि तुम गम्भीरता से स्वीकार नहीं करना चाहते, तो ये सारा अध्ययन और इन बातों का कोई मूल्य नहीं है, ये व्यर्थ हैं और केवल समय बरबाद करना मात्र है।

भारत में हम पाश्चात्य देशों के समान अविवाहित व्यक्ति को प्रोत्साहन नहीं देते। सभी को या तो गृहस्थ बनकर परिवार का भरण-पोषण करके या संन्यासी बनकर अपने मानव भाइयों के आध्यात्मिक विकास हेतु अपना कर्तव्य पालन करना पड़ता है। पाश्चात्य देशों में पाये जानेवाले अपवित्र जीवन-यापन करनेवाले अविवाहित पुरुषों और अविवाहित स्त्रियों को हमारा समाज प्रोत्साहन नहीं देता। इसीलिये भारत में पवित्रता और ब्रह्मचर्य का स्तर कभी-भी इतना नहीं गिरा है। आध्यात्मिकता का अर्थ है – देहात्म-बोध से मुक्त होना, चेतना के अपने स्तर को निम्न केन्द्रों से उच्चतर केन्द्रों को उठाना और शरीरिक तथा मानसिक संयम। देह और मन की पूर्ण पवित्रता के बिना आध्यात्मिक जीवन निरर्थक है और इनके बिना लक्ष्य कभी-भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्य देशों में महिलाओं को स्वयं अपना पति खोजने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। इससे ब्रह्मचर्य, यौन-पवित्रता और पवित्र जीवन के प्रति आस्था को निश्चित रूप से हानि पहुँचती है। क्योंकि वे अपने शारीरिक सौन्दर्य के द्वारा पुरुषों को आकृष्ट करने का तथा अपनी सुन्दरता से उन्हें जीतने का प्रयत्न करती हैं। ऐसी सभ्यता में ब्रह्मचर्य का अति उच्च आदर्श प्राप्त नहीं हो सकता और इसके फलस्वरूप उच्चतर माने में बहुत कम वास्तविक आध्यात्मिकता पायी जा सकती है। धर्म और धार्मिक आदर्शों की ओर आकृष्ट होने वाले सभी लोग आध्यात्मिक नहीं होते, और न ही आध्यात्मिक जीवन के योग्य होते हैं।

ब्रह्मचर्य के विरुद्ध आपत्तियाँ

बहुत से लोग ब्रह्मचर्य को स्वास्थ्य के लिये हानिकारक मानते हैं, क्योंकि यह बहुत से स्नायविक रोग पैदा करता है। उन्हें यह बात कैसे मालूम हुई? पवित्र यौन जीवन यापन किये बिना कोई यह कैसे जान सकता है? आधुनिक स्त्री-पुरुषों में कितने ध्वस्त-स्नायु लोग पाये जाते हैं? आधुनिक जीवन में ये स्नायविक विकार क्या अत्यधिक ब्रह्मचर्य का पालन करने से हुए हैं? क्या नैतिक और पवित्र जीवन व्यतीत करने से वे ध्वस्त-स्नायु हुए हैं; या फिर भोग और उच्छृंखलता का जीवन जीने से? सच तो यह है कि आधुनिक समाज में पाये जानेवाले ध्वस्त-स्नायु लोगों का कारण वासनाओं का दमन या अत्यधिक ब्रह्मचर्य नहीं है, बल्कि कामुकता और अन्य बुराइयों में डूबे रहना है। यह कहना हास्यास्पद है कि यह अत्यधिक स्नायविक दुर्बलता एक सच्चे संयमित जीवन तथा देह-मन के सम्पूर्ण सचेतन संयम का परिणाम है। ऐसा कहने वाली सभ्यता में कोई गम्भीर त्रुटि है। वास्तविक ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिये बुरा नहीं है। उसके विरुद्ध सभी आपत्तियाँ बकवास हैं। सच्चे ब्रह्मचर्य की विरोधी सभी आपत्तियों का कोई आधार नहीं है। वे मूर्खतापूर्ण हैं। लोग इन आपत्तियों को दृढ़ मान्यता के कारण नहीं, बल्कि अपना भोगमय जीवन जीते रहने के बहाने के रूप में उठाते हैं। उनके लिये यह स्वयं के जीवन की स्वीकारोक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

तथाकथित प्रेम

ऐसे लोगों से बचकर रहो, जो यह कहते हैं कि वे सबसे प्रेम करते हैं, वे सभी के लिये प्रेम से पूर्ण हैं। इनमें से निन्यानबे प्रतिशत लोग दूसरों से प्रेम करते ही नहीं, वे स्वयं के किसी के प्रति प्रेम में आसक्त हैं। वे अपनी आसक्ति से प्रेम करते हैं, पर वे यह जानते ही नहीं कि प्रेम क्या है। यह सबसे बुरी स्वार्थपरताओं में से एक है तथा हड़प करने की वृत्ति है। वे अपने को भला समझना चाहते हैं, दूसरों से अपने तथाकथित प्रेम से चिपकना चाहते हैं और यदि उनकी देह न सही, तो कम-से-कम उनके मनों को अपना बनाना चाहते हैं। उनमें कुछ करने की क्षमता नहीं होती, वे बस दूसरों से चिपके रहते हैं। उनके हृदय दूसरों के लिये द्रवित इसलिये नहीं होते कि वे दूसरों को प्रेम करते हैं, पर इसलिये कि वे द्रवित भर होना चाहते हैं। सैकड़ों लोग प्रेम की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, पर यह सब प्रेम नहीं है। प्रेम क्या है, यह केवल ईसा, बुद्ध और श्रीरामकृष्ण ही जानते हैं। एक विवेकानन्द ही प्रेम कर सकते हैं। हम अपने स्तर पर प्रेम नहीं कर सकते। यह केवल भावकुता और लोभ है और सबसे बुरे प्रकार की स्वार्थपरता और अहं-केन्द्रिकताओं में एक है। हम दूसरों को प्रेम नहीं करना चाहते, हम केवल

अपनी भावनात्मक वासना को पूर्ण करना चाहते हैं और इस तरह भावुक रक्त चूसनेवाले बन जाते हैं। बस यही ! यह केवल दिखावा है। अपवित्र मन और देह से प्रेम नहीं हो सकता। आवश्यक शारीरिक और मानसिक अनुशासन का पालन न करनेवाला व्यक्ति यह समझ ही नहीं सकता कि प्रेम क्या है। यह सब झूठ है। असत्य है। ये सब लोग अपने को झूठ में लपेट रहे हैं। ये भावुक गुड़ियाएँ हैं। लोग 'प्रेम' और 'हृदय' की इतनी बातें करते हैं, लेकिन वस्तुत: उनका अर्थ देह और आसक्ति से ही होता है। वे केवल सड़े घावों को सुगन्धित पुष्पों से ढँकने का प्रयत्न मात्र करते हैं।

हृदय का विकास, बुद्धि का विकास होना चाहिये। सभी मानवों में प्रेम है, लेकिन जिसे हम सामान्यत: प्रेम कहते हैं, वह किसी-न-किसी मात्रा में दैहिक अंश-युक्त पाशविक प्रेम होता है। वह प्राय: देहात्म-बोध के स्तर का होता है, जिसकी इन तथाकथित प्रेमों में न्यूनाधिक मात्रा प्रेमिक में रहती है। शारीरिक अथवा मानसिक स्तर पर भोगेच्छा के अंश से युक्त प्रेम, वह सच्चा प्रेम कभी नहीं हो सकता जिसका उल्लेख आध्यात्मिक सन्दर्भ में किया जाता है।

लेकिन आध्यात्मीकरण किये जाने पर, अपने विशुद्ध पवित्र रूप में अभिव्यक्त होने पर प्रेम पाशविकता से मुक्त हो जाता है। हमें 'प्रेम' शब्द का उपयोग, विशेषकर विदेशों में करते समय, बहुत सावधान रहना चाहिये। यहाँ तक कि यथा-सम्भव उस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह दूसरों के मन में भ्रान्त धारणा उत्पन्न करता है। ईसा-मसीहों, बुद्धों, श्रीरामकृष्ण आदि के लिये प्रेम का जो अर्थ है, वह सामान्य व्यक्ति के 'प्रेम' शब्द के अर्थ से बहुत भिन्न है। श्रीरामकृष्ण ने कहा है, ''यदि कोई मेरे आध्यात्मिक पथ में बाधा बनना चाहे तो क्या मुझे उसकी बात सुननी चाहिये? नहीं। यदि आवश्यक हो, तो उस व्यक्ति के टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहिये।''

यह भाव हमें ईसा में भी मिलता है, जब वे कहते हैं, ''जो पिता या माता को मुझ से अधिक प्रेम करता है, वह मेरे योग्य नहीं है और जो पुत्र या कन्या को मुझसे अधिक प्रेम करता है, वह मेरे योग्य नहीं है।'' (मैथ्यू, १०.३७) ''जो मेरे स्वर्गस्थ पिता की आज्ञा का पालन करता है, वही मेरा भाई, मेरी बहन, मेरी माता है।'' (मैथ्यू, १२.५०)

बल और पौरुष

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।

''मैं बलवानों का काम-रागवर्जित बल हूँ। मैं जीवों में धर्म-सम्मत काम हूँ।'' (भगवद्गीता (७/११) –

आध्यात्मिक पथ पर कुछ उपलब्धि करने के लिये महान् इच्छा-शक्ति, महान् ऊर्जा, महान् तथा अदम्य धैर्य आवश्यक हैं। अस्थिर और डाँवाडोल व्यक्ति जो अपने मन को शुद्ध और एकाग्र नहीं करना चाहते, वे आध्यात्मिक जीवन को पूरी निष्ठा के साथ स्वीकार नहीं कर सकते और उनके लिये आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं है। उन्हें इसके बारे में सोचना भी नहीं चाहिये।

''दृढ़ संकल्पहीन लोगों ने संतति की कामना की और मृत्यु को प्राप्त हुए। जबकि दृढ़ संकल्पयुक्त लोगों ने संतति की कामना नहीं की और अमर हो गये।''

वही पौरुष उसी मात्रा में पौरुष कहलाने योग्य है, जिस मात्रा में वह पाशविक प्रकृति के बन्धनों से मुक्त हो सके और परमात्मा और सच्चे पौरुष की ओर प्रगति कर सके। सच्चे मनुष्यत्व और देवत्व मूलत: भिन्न नहीं हैं। पाशविक प्रवृत्तियाँ सच्चे पौरुष के मार्ग में बाधायें हैं और वे पौरुष के अंग कभी नहीं हो सकतीं। अधिकांश लोग पशुतुल्य जीवन या उससे भी गया-बीता जीवन जीते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि पशुतुल्य जीवन मानव-जीवन का अंग है या मानव के स्तर का है। यह बिल्कुल गलत धारणा है।

हम धूल में रेंगते कीड़े नहीं चाहते, हम अन्तर्निहित, नित्य विद्यमान देवत्व और पवित्रता को जीवन में अभिव्यक्त करने वाले पुरुष, सच्चे पुरुष चाहते हैं। सामान्यत: मनुष्य कहलाने वाले लोग मनुष्य नहीं, बल्कि अपनी इन्द्रियों, वासनाओं और उद्वेगों के गुलाम होते हैं। वे मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हैं।

वातदर्शक मुर्गे जैसे मत बनो। नाचना और रोना छोड़ो। हम यह नहीं चाहते। सभी बाह्य उत्तेजनाओं को नियन्त्रित करो, जिससे तुम्हारा मन प्रतिक्रिया न करे, जिससे तुम्हारे मन में कोई लहर, कोई तरंग, कोई रेखा न उठे। किसी भी बाहरी घटना अथवा बाह्य संवेदना के हाथों की कठपुलती कभी न बनो। आसक्त हुए बिना तुम दयालु हो सकते हो।

सदा इस तरह व्यवहार करो कि दूसरे तुमसे लाभ उठाने का साहस न करें, तुमसे परिचय बढ़ाने का साहस न करें। ऐसा व्यवहार करो कि सांसारिक मनोवृत्ति तथा विपरीत मनोभाव वाले लोग तुम्हारी उपस्थिति सहन न कर पायें और तुमसे दूर रहें।

साधक को सदा सौम्य और लोगों से दूरी बनाये रखकर किन्तु कठोरतारहित व्यवहार करना चाहिये। किसी को भी तुम्हारा लाभ उठाने का अवसर न दो। तुमसे ऐसी सौम्यता और पवित्रता विकिरित होनी चाहिये कि संसारी लोग तुम्हारी उपस्थिति में सांसारिक चर्चा करने का साहस न कर सकें।

आहार सम्बन्धी निर्देश

आहार और काम का आपस में निकट सम्बन्ध है। बहुत

से लोग इस बात का पूरा अहसास नहीं करते। वे सोचते हैं कि वे अपनी आध्यात्मिक विकास को हानि पहुँचाये बिना कुछ भी खा-पी सकते हैं। साधक को पता लगा लेना चाहिये कि कौन-सा आहार उसे सबसे अधिक सहायक होता है और कौन से आहार का उस पर बुरा असर पड़ता है। इसके लिये बहुत सजगता और निर्मम विश्लेषण आवश्यक है, जो कभी-कभी साधक के लिये बहुत कष्टदायक हो सकता है। हम अपने मन में गहरे पैठने पर उसके गहनतम और अन्धकार युक्त कोनों में छिपी ऐसी बहुत-सी बातें पाते हैं, जिनकी हमने वहाँ अपेक्षा नहीं की थी और जिन्हें जानकर हम सिहर उठते हैं। सत्य के पथ पर अग्रसर होने के पूर्व बहुत-सी सफाई और घिसाई करना तथा अपने प्रिय विचारों, भावनाओं और इच्छाओं को निर्ममतापूर्वक नष्ट करना आवश्यक है। एक श्लोक है –

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।।

(छान्दोग्य उपनिषद्, ७/२६/२)

– अर्थात् ''आहार की शुद्धि से चित्त शुद्ध होता है, चित्तशुद्धि से स्मृति स्थिर होती है। स्मृति की प्राप्ति होने पर समस्त ग्रन्थियों का नाश होता है।''

आहार के विषय में इस श्लोक पर अपने भाष्य में श्री शंकराचार्य कहते हैं – **आहारशुद्धौ आह्रियत इत्याहारः । शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगाह्रियते तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धी राग-द्वेष-मोह-दोषैरसंसृष्टं विषय-विज्ञानमित्यर्थः । तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां तद्वन्तोऽन्तःकरणस्य सत्त्वस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं भवति, सत्त्वशुद्धौ च सत्यां यथावगते भूमात्मनि ध्रुवाविच्छिन्ना स्मृतिरविस्मरणं भवति । तस्यां च लब्धायां समृतिलम्भे सति सर्वेषामविद्याकृतानर्थ-पाश-रूपाणामनेक-जन्मान्तरानुभव-भावना-कठिनीकृतानां हृदयाश्रयाणां ग्रन्थीनां विप्रमोक्षो विशेषेण प्रमोक्षणं विनाशो भवतीति । यत एतदुत्तरोत्तरं यथोक्तम्-आहारशुद्धिमूलं तस्मात्सा कार्येत्यर्थः ।** अर्थात् – ''जिनका आहरण किया जाय, उन्हें आहार कहते हैं। भोक्ता के भोग के लिये शब्दादि विषय-विज्ञान का आहरण किया जाता है, उस विषयोपलब्धि-रूप विज्ञान की शुद्धि ही 'आहार-शुद्धि' है, अर्थात् राग-द्वेष, मोह आदि दोषों से असंसृष्ट विषय-विज्ञान। उस आहारशुद्धि के होने पर उससे युक्त अन्तःकरण यानि सत्त्व की शुद्धि – निर्मलता होती है और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर उपर्युक्त प्रकार से जाने गये भूमात्मा में ध्रुव – अविच्छिन्न स्मृति यानि अविस्मरण हो जाता है तथा उसकी प्राप्ति होने पर, स्मृति लब्ध होने पर अनेक जन्मों में अनुभव की हुई भावनाओं से कठिन की हुई अविद्याकृत अनर्थपाशरूप हृदयस्थित ग्रन्थियों का विप्रमोक्ष – विशेष रूप से प्रमोक्षण – विनाश हो जाता है। इस प्रकार चूँकि यह ऊपर कहा हुआ सब कुछ उत्तरोत्तर आहारशुद्धि-मूलक है, इसलिये वह अवश्य करनी चाहिये – ऐसा इसका तात्पर्य है।''

आहार का शाब्दिक अर्थ नहीं लेना चाहिये। कोई भी संवेदन जो किसी भी इन्द्रिय से तुम्हारे पास आवे, वह आहार है। इसीलिये प्रत्येक साधक को संगति, गपशप, पुस्तक-पठन, श्रवण आदि के माध्यम से अपवित्र आहार भीतर आकर पूर्व संस्कारों को उत्तेजित न कर सके, इस विषय में बहुत सावधान रहना चाहिये। अपने विवेक की शक्ति का उपयोग करके उसे सावधानी पूर्वक ऐसे सभी अपवित्र आहारों से दूर रहना चाहिये।

यह महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात है कि हम इन्द्रियों के द्वारा कौन-सा आहार ले रहे हैं, इस विषय में सावधान रहें। सावधानी और सजगता के साथ अपनी विवेक-शक्ति का पूरा उपयोग कर अपवित्र आहार से पूरी तरह दूर रहने पर वास्तविक प्रगति होगी। ऐसा न करने पर प्रगति या तो रुक जायेगी या हम अधोगामी हो जायेंगे। सभी अपवित्र आहार से बचने पर ही हम अपने देह और मन को पवित्र और सबल बना सकते हैं। आहार का अर्थ भोजन के समय खाये जाने वाले अन्न से कहीं अधिक है। इन्द्रियों द्वारा भीतर लिये जाने वाले आहार के विषय में उचित विवेक के अभाव में फिसलने और पतित होने का बहुत बड़ा खतरा है। किन्तु कई बार हम अनावश्यक वस्तु को आवश्यक समझने की गलती कर बैठते हैं और इस तरह अपनी शक्ति को व्यर्थ बर्बाद करते हैं। स्थूल बुद्धिवाले लोग सदा विषय को स्थूल दृष्टि से देखते हैं और इस तरह महत्वपूर्ण बात को खो देते हैं। ❑ ❑ ❑
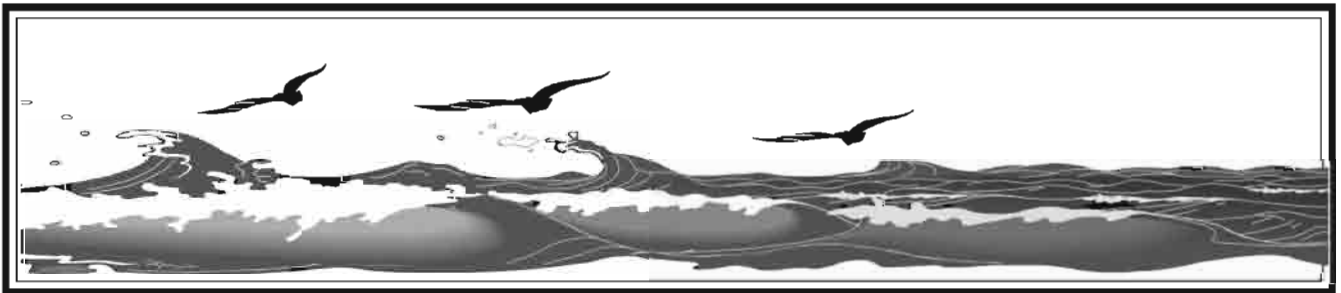
दान के दृष्टान्त

रामेश्वर टांटिया

एक दिन अपने किसी मित्र के साथ एक संस्था देखने गया। वहाँ के पंखों की तीनों ताड़ियों पर बड़े-बड़े अक्षरों में उनके द्वारा दान की घोषणा लिखी हुई थी। इस सन्दर्भ में जब मैंने कुछ नहीं कहा, तो वे स्वयं बोले – पिछले वर्ष ये चारों पंखे हमने ही दिये हैं। मुझे लगा कि यहाँ आनेवाले अधिकांश लोगों से वे यही बात दुहराते हैं। मैंने हँसकर कहा – यह तो इतने बड़े-बड़े अक्षरों में विज्ञापन से ही पता चल जाता है। देखा कि मेरी बात सुनकर वे कुछ झेंप-से गये।

वैसे दान देकर नाम-बड़ाई सभी लोग चाहते हैं। परन्तु इसकी भी एक सीमा होनी उचित है। आज अधिकांश दानी सौ देकर पाँच सौ का नाम चाहते हैं, परन्तु आज से चार सौ वर्ष पहले प्रसिद्ध दानवीर रहीम को किसी ने पूछा था कि आप दान देते समय आँखें नीची क्यों रखते हैं? इन पर उन्होंने उत्तर दिया –

देनहार कोऊ और है, भेजत है दिन रैन ।
लोग भरम हम पर धरैं, यातै नीचे नैन ।।

खानखाना अब्दुल रहीम अदभुत दानी थे, परन्तु उस तरह के कुछ व्यक्ति बिरले ही होते हैं। इस सन्दर्भ में विभिन्न समय के दो चित्र उपस्थित करता हूँ।

देश के प्रसिद्ध नेता श्री श्रीप्रकाशजी के पूर्वजों में दो सौ वर्ष पहले इसी प्रकार के एक दानवीर हो गये हैं। उनके यहाँ बीसियों नौकर-चाकर तथा मुनीम-गुमाश्ते थे, जिनका वेतन एक रुपये से दस रुपये माहवार तक था। एक बार लगातार दो वर्षों तक अकाल पड़ा, चीजों के दाम महँगे होते गये। सर्वसाधारण के भूखों मरने के दिन आ गये। शाहजी ने एक दिन तीन-चार मुनीमों को बुलाकर कहा कि बहुत दिनों से तहखाने में पड़ी रहने के कारण अशर्फियाँ गीली हो गई हैं, इसलिये इनको धूप में सूखा लो। शाम को तौलने पर अशर्फियाँ उतनी ही रहीं, भला सोने का क्या सूखता? शाहजी ने उनको कहा – ''तुम लोग कुछ काम करना नहीं जानते, कल इनको अच्छी तरह से सुखाओ।'' ''इशारा स्पष्ट था। दूसरे दिन अशर्फियाँ एक पाव कम थी, शाहजी खुश थे। सूखी हुई अशर्फियाँ वापस तहखाने में रख दी गयीं। इसी तरह जब तक वे जीये, जरूरतमन्दों को गुप्त रूप से हर प्रकार की सहायता देते रहे। यहाँ तक कि एक हाथ का दिया दूसरे हाथ को पता नहीं चलता। लोग उन्हें झक्की समझते और प्रेमपूर्ण हँसी में 'झक्कड़शाह' कहने लगे। उनके परिवारवालों ने बड़ाबाजार के प्रसिद्ध मनोहरदास कटरा के साथ-साथ धर्मतला के मैदान में मनोहरदास तालाब बनवाया था। इसके चारों तरफ की छतरियों से आज भी सैकड़ों व्यक्ति धूप तथा वर्षा में आश्रय लेते हैं और उनके द्वारा छोड़ी हुई गोचर-भूमि में सैकड़ों जानवर चरते रहते हैं।

इस प्रसंग में, रामगढ़ (शेखावटी) के एक सेठ की बात याद आ जाती है। पौष-माघ में, इस क्षेत्र में बहुत ज्यादा सर्दी पड़ती है। कभी-कभी तो रात में बाहर रखा हुआ पानी जमकर बर्फ हो जाता है। ऐसी ही एक रात में सेठजी ने गीदड़ों की ''हुँआ-हुआँ'' सुनी। दूसरे दिन पण्डितों को बुलाकर पूछा, तो उन लोगों ने बताया कि ज्यादा सर्दी के कारण सब ठिठुर रहे हैं।

गीदड़ों की संख्या पूछने पर – चौदह-पन्द्रह सौ बता दी और उतनी ही रजाइयों की आवश्यकता भी। सेठजी ने गुस्से से कहा – ''महाराज, ऐसा अन्धेर क्यों करते हैं! पन्द्रह सौ में पाँच सौ बच्चे भी तो होंगे, उनको अलग रजाई की क्या जरूरत है? वे तो माँ-बाप के साथ ही सो जायेंगे।''

खैर, दो-तीन दिनों में ही हजार रजाइयाँ भरवाकर पण्डितों की मार्फत भेज दी गयीं। सेठजी हँसकर मित्रों और सेठानी को कह रहे थे – ''मुझे ठगना सहज नहीं है। देखो, किस प्रकार पाँच सौ रजाइयों की बचत कर ली!''

दूसरी रात फिर गीदड़ों की दर्द-भरी पुकार सुनकर सेठजी की नींद उचट गयी। पूछने पर उत्तर मिला – ''श्रीमान! रजाइयों से सर्दी तो मिट सकती है, परन्तु पेट की भूख नहीं, बेचारे कई दिनों से भूखे हैं, इसीलिये रो रहे हैं। दूसरे दिन बहुत-सा हलुआ-पूड़ी बनवाकर भेज दिया गया। अगली रात फिर वही आवाजें आयीं। लिहाजा, फिर पण्डितों को बुलाया गया। इस बार हँसते हुये उन्होंने कहा – ''सेठजी! वे अच्छी तरह खा-पीकर आराम से रजाइयाँ ओढ़कर बैठे हैं। आपको आशीर्वाद दे रहे है कि रोज इसी तरह देते रहेंगे।''

मुनीमों ने सेठजी को बहुत कहा कि इन पण्डितों ने आपको ठग लिया है, भला कहीं गीदड़ भी रजाइयाँ ओढ़ते हैं या पंगत लगाकर हलुआ-पूड़ी खाते हैं? परन्तु सेठजी किसी तरह यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। शायद मन में तो वे भी जानते थे, परन्तु उनको इस प्रकार के कार्यों से एक नैसर्गिक आनन्द मिलता था और इसी बहाने गाँव के गरीब ब्राह्मणों के पास कुछ चीजें पहुँच जाती थीं।

छत्तीसगढ़ की राजधानी में विभिन्न रूप में मनाये गये युवा-दिवस की झलकियाँ

भारत के महान् सपूत, भारतीय संस्कृति के गौरव और युवकों के प्रेरणा-स्रोत स्वामी विवेकानन्द जी की जन्मतिथि सोमवार, १२ जनवरी, २००९ को देश के विभिन्न स्थानों में 'राष्ट्रीय युवा दिवस' के रूप में मनाया गया। छत्तीसगढ़ की राजधानी, रायपुर में भी विभिन्न संस्थानों के द्वारा विभिन्न प्रकार से स्वामीजी को याद किया गया तथा छात्र-छात्राओं की प्रतिभा को विकसित एवं प्रखर बनाने के लिये विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयीं। विभिन्न संस्थाओं द्वारा अनेक योजनायें घोषित की गयीं। विद्यार्थियों और युवाओं ने स्वामीजी के बताये हुय मार्ग पर चलने का संकल्प लिया। प्रस्तुत है उन सबका संक्षिप्त विवरण।

महान् चिन्तक और सन्त युवानायक स्वामी विवेकानन्द जी की जयन्ती की पूर्व-संध्या पर छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह जी ने जनता को शुभ-कामनायें देते हुये कहा – "युवाओं के प्रेरणा-स्रोत और हमारे महान् सन्त स्वामी विवेकानन्द भारत माता के अनमोल रत्नों में से थे। उन्होंने आधुनिक विचारों के माध्यम से देश और दुनिया को सत्य, अहिंसा, दया, करुणा और परोपकार जैसे सर्वश्रेष्ठ मानवीय मूल्यों की शिक्षा देकर मानवता का मार्ग दिखलाया है।" मुख्यमंत्री ने यह भी कहा – "बाल्यकाल के कुछ वर्ष रायपुर में निवास करने के कारण स्वामी विवेकानन्द जी का छत्तीसगढ़ की धरती से भी भावनात्मक जुड़ाव था। यह हम सबके लिये बड़े गर्व की बात है।"

उसी दिन प्रात:काल सुबह १० बजे रायपुर के बूढ़ा तालाब स्थित विवेकानन्द सरोवर के नीलाभ उद्यान में स्थापित विश्व की सबसे ऊँची स्वामी विवेकानन्द की ध्यान-मूर्ति पर नगर-निगम के संस्कृति विभाग की ओर से पुष्पांजलि अर्पित की गयी। संस्कृति विभाग के अध्यक्ष श्री गोपी साहू ने स्वामीजी को श्रद्धांजलि अर्पित की। जिला काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री इन्द्रचंद धाड़ीवाल ने भी स्वामीजी की प्रतिमा पर माल्यार्पण कर उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर की राष्ट्रीय सेवा योजना ईकाई और रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय परिसर में स्थित स्वामी विवेकानन्द जी की प्रतिमा का माल्यार्पण के साथ पूजन किया गया और उसके बाद आयोजित युवा छात्रों की सभा में विभिन्न वक्ताओं ने स्वामीजी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला। सभी आये हुये छात्र-छात्राओं को स्वामी विवेकानन्द जी की एक पुस्तिका उपहार-रूप में दी गयी। कार्यक्रम में विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के बच्चों की भी सोत्साह सहभागिता रही। मुख्य वक्ता थे कुलपति श्री लक्ष्मण प्रसाद चतुर्वेदी, स्वामी सत्यरूपानन्द जी तथा डॉ. ओम प्रकाश वर्मा।

राष्ट्रीय सेवा योजना की विभिन्न ईकाइयों द्वारा विभिन्न प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयी थीं, जिसका पुरस्कार वितरण विश्वविद्यालय परिसर में आयोजित सभा में किया गया।

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम द्वारा संचालित 'बालक संघ' के द्वारा आश्रम परिसर में ही शाम ७ बजे से ९.३० बजे तक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। जिसमें लड़कों ने विभिन्न प्रकार के गीत, भजन, नाटक और नृत्य आदि प्रस्तुत किये।

विवेकानन्द तकनीकी विश्वविद्यालय, भिलाई में कुलपति डॉ. बी. के. स्थापक की अध्यक्षता में युवा-महोत्सव का आयोजन किया गया। रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी मुख्य अतिथि थे, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला और विद्यार्थियों को प्रेरित किया।

कार्यक्रम के संयोजक डॉ. प्रकाश देशमुख जी ने बताया कि राजधानी के अनेक इंजिनियरिंग कॉलेजों द्वारा भी युवा दिवस के उपलक्ष्य में विभिन्न प्रतियोगितायें आयोजित की गयी हैं। भिलाई इंजिनियरिंग कॉलेज द्वारा बासकेट बॉल और फुटवॉल टुर्नामेन्ट; एम. एम. इंजिनियरिंग कॉलेज, रायपुर द्वारा क्रिकेट तथा योग; कोलम्बिया इंजिनियरिंग कॉलेज, रायपुर के द्वारा टेबल टेनिस, छत्रपति शिवाजी इंजिनियरिंग कॉलेज, दुर्ग के द्वारा बालीबॉल, एम.पी.सी.सी.इ-टी में हैंडबॉल; किरोड़ीमल इंजिनियरिंग कॉलेज, रायगढ़ में बैडमिन्टन; दिशा तकनीकी तथा प्रबन्धन संस्थान के द्वारा एथलेटिक्स; युगान्तर तकनीकी तथा प्रबन्धन संस्थान, राजनांदगाँव के द्वारा चेस और क्विज; रुंगटा इंजिनियरिंग कॉलेज, भिलाई द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम; रावतपुरा इंजिनियरिंग कॉलेज द्वारा हिन्दी निबन्ध प्रतियोगिता; और इसके अतिरिक्त रुंगटा इंजिनियरिंग कॉलेज, छत्तीसगढ़ इंजिनियरिंग कॉलेज तथा शंकराचार्य

इंजिनियरिंग कॉलेज के द्वारा वाद-विवाद, फोटोग्राफी, रंगोली आदि विभिन्न प्रतियोगितायें आयोजित की गईं।

स्वामी विवेकानन्द चित्र प्रतियोगिता का आयोजन शासकीय नवीन कन्या शाला की राष्ट्रीय सेवा योजना ईकाई द्वारा किया गया। इस प्रतियोगिता में शहर के सभी विद्यालयों ने भाग लिया। होलीक्रास स्कूल ने वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया।

रावतपुरा सरकार संस्थान में स्वामी विवेकानन्द जयन्ती वेदान्त समारोह के रूप में मनाई गयी। इसके अन्तर्गत वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। प्रतियोगिता का विषय था – "राष्ट्र के समग्र विकास के लिये वर्तमान स्कूली शिक्षा में स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन के अनुसार संशोधन होना चाहिये।" सभा के मुख्य अतिथि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद, रायपुर के सलाहकार डॉ. आर. टुटके ने कहा – "शिक्षा का विकास सिर्फ विज्ञान का विकास नहीं है। इसमें नैतिक शिक्षा और मानव धर्म को शामिल करना जरूरी है।" इसकी अध्यक्षता रावतपुरा सरकार संस्थान के अकादमिक अधिष्ठाता श्री आर. एन. त्रिपाठी ने की।

शासकीय औद्योगिक प्रशिक्षण संस्था संस्था (आई.टी.आई), माना में राष्ट्रीय सेवा योजना द्वारा 'राष्ट्र के विकास में युवाओं का योगदान' नामक विषय पर भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया, जिसमें छात्रों ने अपने महत्वपूर्ण विचार रखे।

दुर्गा कॉलेज में तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इसके साथ-ही-साथ मेंहदी और पुष्प-सज्जा प्रतियोगिता का आयोजन किया गया, जिसमें लड़कों ने भी भाग लेकर कला प्रदर्शनी में अद्भुत क्षमता दिखायी।

एस. एस. कालीबाड़ी स्थित उमा विद्यालय में भी स्वामी विवेकानन्द जयन्ती मनाई गयी।

विवेकानन्द सेवा समिति, लखौली द्वारा 'नक्सलवाद की समस्या और समाधान' नामक विषय पर हाई स्कूल में; और 'त्योहारों का महत्त्व' विषय पर माध्यमिक शाला स्तर पर भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया।

विवेकानन्द विद्यामन्दिर, लखौली के छात्रों ने देशभक्ति के गीत तथा नृत्य आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये।

शहर की शैक्षिक व सामाजिक संस्था 'युवा-परिषद' ने पं. दीनदयाल उपाध्याय नगर स्थित विवेकानन्द वाटिका और प्रतिमा की सफाई की। सभा के मुख्य अतिथि स्वतन्त्रता सेनानी शिवराम पाण्डेय ने कहा, "हम महापुरुषों के आदर्शों पर चलकर ही भारतमाता की सच्ची सेवा कर सकते हैं।" संस्था के संस्थापक एम. राजीव ने कहा कि इस संस्था की स्थापना विवेकानन्द जयन्ती पर हुई थी। इस संस्था का उद्देश्य ही विवेकानन्द जी के आदर्शों पर चलना है।

इस अवसर पर अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद की ओर से दुर्गा महाविद्यालय और सरस्वती शिशु मन्दिर स्कूल, देवेन्द्र नगर को स्वामी विवेकानन्दजी के चित्र भेंट किये गये।

राजभाषा साहित्य समिति ने बूढा तालाब स्थित स्वामीजी की प्रतिमा के समक्ष एक बौद्धिक, रचनात्मक तथा सृजनात्मक गोष्ठी आयोजित की।

नेताजी सुभाष मंच ने रविशंकर विश्वविद्यालय परिसर स्थित स्वामी विवेकानन्द जी की प्रतिमा पर माल्यार्पण कर उन्हें याद किया।

पतंजलि योग समिति के तत्त्वावधान में संगठन मंत्री श्री टिकेन्द्र उपाध्याय के नेतृत्व में मोतीबाग से योग-जागरण-यात्रा प्रारम्भ हुई। यह यात्रा रायपुर जिले के सभी तहसीलों तथा विकास-खण्ड मुख्यालयों तक जायेगी तथा जन-साधारण में योग-जागरण, राष्ट्रीय चेतना तथा भारत के स्वर्णिम गौरव को प्राप्त करने के लिये जन-जन में चेतना जागृत करेगी।

शहर कॉंग्रेस कमेटी ने सुबह १० बजे कॉंग्रेस भवन में स्वामीजी की जयन्ती को युवा दिवस के रूप में मनाया।

प्रदेश युवा-कांग्रेस के कर्ताओं ने जयस्तम्भ चौक पर युवकों के बीच स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकों का वितरण किया तथा उनके आदर्शों पर चलने की शपथ ली।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, कटिहार

रामकृष्ण मिशन विद्या-मन्दिर, रामकृष्ण मिशन शिशु-मन्दिर और रामकृष्ण मिशन आश्रम, कटिहार ने २१ मार्च से २३ मार्च – तीन दिनों तक अपना वार्षिकोत्सव मनाया। २१ मार्च को विद्या-मन्दिर के छात्रों ने 'महाभारत' विषयक एक सुन्दर नाटक का मंचन किया। भाषण, पाठ-आवृत्ति, और नृत्य प्रतियोगिता के अतिरिक्त 'मीडिया सामान्य जनता को दिग्भ्रमित कर रही है' – विषय पर रोचक वाद-विवाद प्रतियोगिता का भी आयोजन हुआ, जिसमें विद्या-मन्दिर के छात्रों ने सोत्साह भाग लिया।

२१ मार्च और २२ मार्च को धर्मसभा थी। इस सभा की अध्यक्षता स्वामी सुहितानन्द जी महाराज, सहायक महासचिव, रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, ने की तथा स्वामी सुमनसानन्द, स्वामी असीमात्मानन्द और स्वामी ऋतानन्द जी ने महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिये।

२१ मार्च को स्व-रोजगार योजना के अन्तर्गत स्वामी सुहितानन्द जी महाराज ने ४ रिक्से, ४ सिलाई मशीनें और हाईस्कूल की छात्राओं को १५ साइकिलें प्रदान किये।

२२ मार्च को उन्होंने कटिहार से ११ किलोमीटर दूर आदिवासी क्षेत्र में स्थित बिलारपारी गाँव में एक निःशुल्क शिक्षण केन्द्र का उद्घाटन भी किया। ❑❑❑